स्वामी ब्रह्मानन्द गिरि-कृत—

श्रीमद्वराह चरितम्

* श्रीः *

स्वामी अचलानन्द गिरि-कृत

श्रीमद्वराह चरित्रम्

विश्वनाथ सिंह, एम० ए०, यल-यल० बी०,

वकील, बनारस,

द्वारा

अनूदित और सम्पादित ।

प्रथमावृत्ति
५०० प्रतियां

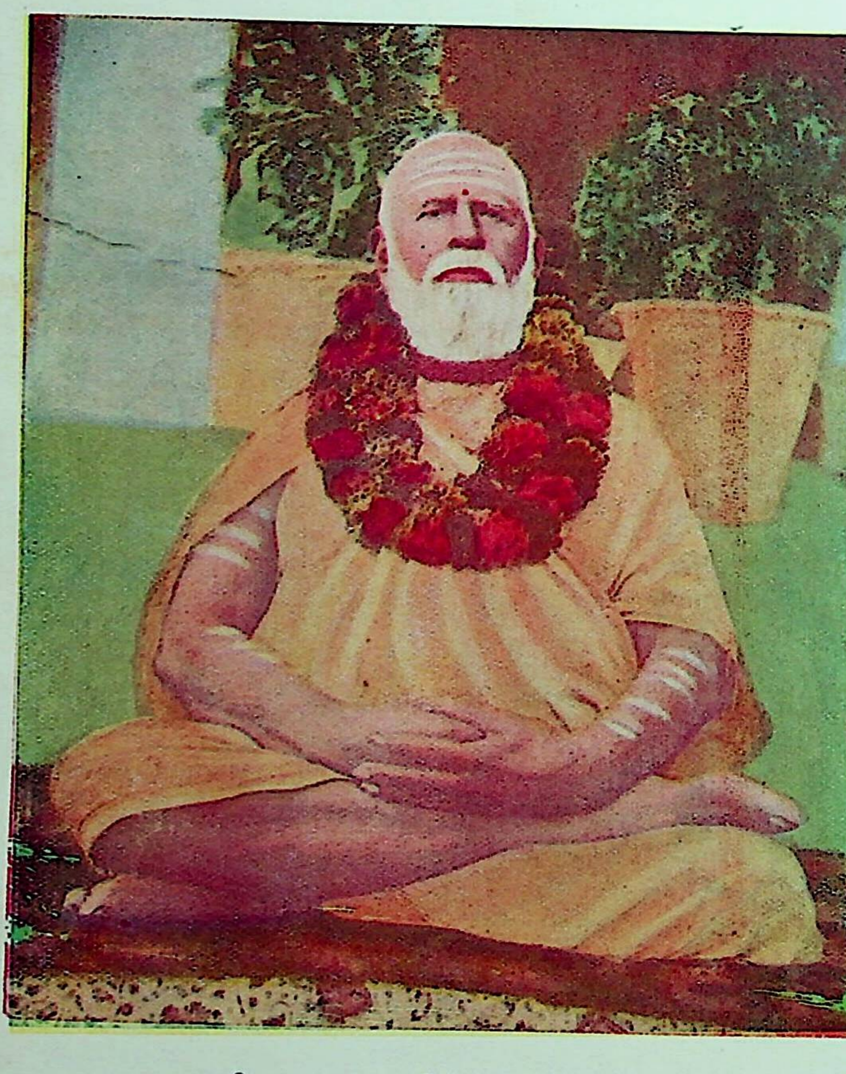
१९२९

अमूल्य
वितरित ।

प्रकाशक—
ठाकुर वंश नारायण सिंह,
घुड़दौर, जौनपूर ।

मुद्रक—
सद्दादुरराम,
हितैषी प्रिंटिंग वर्क्स,
नीचीबाग, बनारस सिटी ।

श्रीमद्वराह चरित्रम्



स्वामी अचलानन्द गिरि जी महाराज।

जन्म-काल	निधन-काल
भाद्र-शुक्ल १४,	श्रावण-शुक्ल ३,
सम्वत् १८९२ वि०	सम्वत् १९७६ वि०

कृष्ण के चारु चरणों में

भूमिका

स्वामी अचलानन्द गिरि महाराज की पुस्तक की समाप्ति पर भूमिका लिखने का सौभाग्य मुझ अकिञ्चन के भाग में बदा था। मैं अपने भाग्य को सराहूँ या उस परमात्मा को धन्यवाद दूँ जिसकी महती कृपा ने मुझ जैसे छोटे जीव को भी इस योग्य बनाया कि मैं स्वामी अचलानन्द महाराज जैसे विद्वान सन्यासी की रचना को संसार के सन्मुख उपस्थित कर सकूँ। अपनी विद्या-बुद्धि पर भरोसा न रखते हुये भी मैंने स्वामीजी की रसीली कविता पर भाष्य करने का जो दुःसाहस किया है, यद्यपि वह क्षन्तव्य नहीं है, तथापि अपने भाग्य की बड़ाई समझ कर मैंने उसे संसार के सामने रक्खा है, उसमें महज़ इतनी मसलहत है, कि स्वामीजी ने यह काम केवल मुझे ही सौंपा था। स्वामीजी सन्यासी ही नहीं, पहुँचे हुये योगी भी थे। उन जैसे भविष्यज्ञाता को, शायद, यह मालूम था कि "वराह-चरित्रम्" पर सबसे पहले मेरा ही भाष्य प्रकाशित होगा। यही समझ कर मैं आज फूला नहीं समाता हूँ, कि स्वामीजी की मृत्यु के दस वर्ष के भीतर ही उनके नाम के साथ मेरा नाम भी, इस काव्य-जाल में, गुथा गया। मेरे जैसे अल्पज्ञ के लिये इससे बढ़कर और गौरव की बात ही क्या हो सकती थी ?

स्वामीजी की मुझपर बड़ी कृपा थी। बचपन में जब वह मुझे संस्कृत-व्याकरण पढ़ाया करते थे, तो मैं प्रायः उनसे छन्दः शास्त्र पर प्रश्न किया करता था। एक दिन दोपहरी में स्वामीजी के समीप बैठा मैं "लघुकौमुदी" का पाठ दोहरा रहा था, और स्वामीजी अपनी चारपाई पर पड़े पड़े कुछ सोच रहे थे। आध घंटे के सोच-विचार के बाद स्वामीजी ने पूछा, "क्यों भाई, तुझे कुछ संस्कृत आ भी गई ? अभी तुझे कुछ छन्दों का ज्ञान हुआ या नहीं ?" मैंने बड़े संकोच के साथ उत्तर दिया, "जी हाँ, मैंने अबकी विहार-संस्कृत-समिति की प्रथमा परीक्षा देने का विचार किया

है। अब मैं काफ़ी संस्कृत समझ लेता हूँ। वसन्ततिलका, शिखरिणी, द्रुतविलम्बित, और आर्य्या आदि छन्दों के लक्षण भी मुझे याद हैं।" स्वामीजी ने कुछ उत्तर न देकर अपने पढ़ने की किताबों के बन्डल में से एक छोटा सा बस्ता निकाला और इस बस्ते को मेरी तरफ़ बढ़ा कर कहा, "यह पुस्तक बहुत दिनों से मेरे पास पड़ी है; तू इसे लेजा, और कभी इसकी हिन्दी-टीका करके छपवा देना। मैंने पुस्तक ले तो ली, परन्तु यह न समझ सका कि स्वामीजी ने इतना बड़ा भार मेरे ऊपर क्यों डाल दिया। मैं जानता था कि जो पुस्तक स्वामीजी ने आज मुझे दी है, उसके छपवाने का ज़िक्र बड़े ज़ोरों से हो रहा है। कई पण्डितों ने मिलकर इसका भाष्य भी किया है; परन्तु वह स्वामीजी को पसन्द नहीं।

पुस्तक लेकर मैं घर चला आया, और बड़ी देर लौं सोचता रहा, कि आखिर मैं इसे कैसे छपवाऊँ। मेरी अवस्था उस वक्त सोलह वर्ष से ज़्यादा नहीं थी, और मैं क्षत्रिय स्कूल, बनारस, के सातवें दर्जे में पढ़ा करता था। संकोच-वश किसी से कहा भी नहीं कि स्वामी जी ने "वराह-चरित्रम्" की पोथी छपवाने के लिये मुझे दी है। अपने उत्तरदायित्व का महत्व समझकर तथा स्वामी जी का विश्वास देखकर मुझे रुलाई आ गई। लेकिन "वराह-चरित्रम्" जैसा सुन्दर प्रसाद पाकर मैं ने अपने भाग्य को बहुतेरा सराहा, और मेरा जी इस अभिमान से भर गया, कि सैकड़ों संस्कृतज्ञ और योग्य शिष्यों के होते हुये भी जो स्वामी जी ने इस महत्तम कार्य्य के लिये मुझ अज्ञान बालक को चुना है, तो इसमें कोइ-न-कोई उनकी मसलेहत ज़रूर होगी। चुपचाप स्कूल चला आया और "वराह-चरित्रम्" के पन्ने उलटने लगा। ज्यों-ज्यों पुस्तक में प्रवेश करता गया, त्यों-त्यों यह देखकर मेरा आश्चर्य्य नित नया होने लगा कि स्वामी जी ने, वराह-चरित्रम् में, विविध छन्दों की भरमार कर दी है। मैंने पुस्तक का हिन्दी-अनुवाद करना प्रारम्भ कर दिया। प्रतिदिन आठ घण्टे से कम इसके पढ़ने और अनुवाद लिखने में मैंने नहीं लगाये। दशहरे की छुट्टियाँ नज़दीक थीं, और मैंने सोचा कि इन छुट्टियों में घर चल के पूरे "वराह-चरित्रम्" का अनुवाद स्वामी जी को दिखलाऊँगा। लड़कपन की उमंगों और स्वामी जी के अपने प्रति निश्छल विश्वास ने मुझ में वह शक्ति भर दी कि मैंने सारे-के-सारे "वराह-चरित्रम्" का अनुवाद, लगभग डेढ़ महीने में, पूरा कर दिया। छुट्टियों में जाकर अपनी करतूतों का नमूना स्वामी जी के सामने पेश किया। उन्होंने बड़ी कृपा-पूर्वक अनुवाद का कुछ अंश पढ़ा और उसे पसन्द किया। मेरा प्रयत्न सफल हो गया।

साल भर बाद स्वामी जी का देहान्त हो गया और पुस्तक के छपवाने का कोई प्रबन्ध न तो स्वामी जी अपनी ज़िन्दगी में कुछ कर सके और न और किसी से ही बनपड़ा। सन् १९१८ ई० से सन् १९२७ तक, मैं अपने पढ़ने-लिखने में मशगूल रहा, और "वराह-चरित्रम्" की कापी मेरी सन्दूक़ची में पड़ी-पड़ी सोती रही। न तो किसी ने पूछा कि "वराह-चरित्रम्" कहाँ गया, और न

मैंने किसी से बतलाया कि वह मेरे पास है। मन-मनमें, अलबत्ता, सोचता रहा कि अगर कोई मौक़ा हाथ आवे, तो इसका एक अच्छा-सा संस्करण प्रकाशित करवा कर स्वामीजीके ऋणसे उत्तीर्ण हो जाऊँ।

सन् १९२८ ई० के मई महीने में जब मैंने बनारस में वकालत शुरू की, तो मुझे इस पुराने ऋण का सबसे पहले ख्याल आया। पुस्तक की १० वर्ष पुरानी कापी झींगुरों और मकोड़ों के जख़ीरे से बाहर की, और झाड़-पोंछ कर उसे अपने कुछ मित्रों को दिखलाया। मुझे यह कहते हुये बड़ी प्रसन्नता होती है कि इन मित्रों ने मुझे बड़ा उत्साह दिलाया और पुस्तक के शीघ्र प्रकाशित करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि इन्हीं मित्रों की कृपा का फल-स्वरूप यह पुस्तक आज प्रकाशित हो रही है।

जिन लोगों को यह भय और सन्देह था कि "वराह-चरित्रम्" खोया गया और इस लिये निराश हो रहे थे, उन्हें पुस्तक को सही-सलामत हालत में देखकर बड़ी प्रसन्नता हासिल हुई। घोड़दौर के प्रसिद्ध रईस स्वर्गीय ठा० रघुनन्दन सिंह के पौत्र, ठा० बंशनारायण सिंह साहेब, की प्रसन्नता का वारापार न रहा। उन्होंने गांव-गांव फिर कर "वराह-चरित्रम" के मिल जाने का समाचार लोगों को सुनाया, तथा पुस्तक की छपाई में यथासाध्य सहायता देने की अपील की। ठा० बंशनारायन सिंह साहेब का उत्साह, इस मामले में, अदम्य और उनका परिश्रम प्रशंसनीय रहा है। उनकी मिहनत का यह नतीजा हुआ कि स्वामीजी के पुराने और सोते हुये भक्तों में जाग्रिति की बिजली दौड़ गई, और धरसौना से ठा० शम्भुनारायण सिंह साहेब और सुग्रीव सिंह साहेब; घोढ़दौड़ से ठा० लक्ष्मीनारायण सिंह साहेब तथा मुन्शी केदारनाथ साहेब, हरिहर पुर से पं० राजनारायण चौबे जी, पारापाटी से ठा० अमलदार सिंह साहेब और ठा० रामबदन सिंह साहेब, एवं बेहड़ा से पं० विन्ध्येश्वरी शुक्लजी मेरे पास आये। इन सज्जनों ने आपस में चन्दा करके पुस्तक की छपाई के लिये एक ख़ासी अच्छी रक़म इकट्ठी कर ली। इस प्रकार "वराह-चरित्रम्" के छपने का प्रबन्ध हो गया। मैंने अपना पुराना अनुवाद दोहराया और प्रेस में छपने के लिये पुस्तक भेज दी।

इस प्रकार जाकर दस वर्ष बाद, "वराह-चरित्रम" वर्तमान दशा को प्राप्त हुआ।

पुस्तक के विषय में कुछ कहना-सुनना व्यर्थ है। मेरी समझ में जो कुछ आया, मैंने स्वामीजी के जीवन-चरित्र में इसके सम्बन्ध में लिख दिया है। मैंने, जहाँ तक सम्भव था, अपने विचार स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकट किये हैं। मुमकिन है लोग मेरे विचारों से सहमत न हों, पर मैं अपना मत प्रकट करने में स्वतन्त्र हूँ। बे-अदबी के लिए, अलबत्ता, माफ़ी चाहता हूं। रही बात अनुवाद की। सो, स्वामीजी की रसीली संस्कृत का हिन्दी-रूपान्तर करना मेरे लिये सहज न था। स्वामी जी ने छन्दों की इस क़दर ज्यादती कर दी है कि हर एक छन्द का लक्षण समझना और फिर उसका हिन्दी-उल्था करना उन्हीं जैसे

विद्वानों का काम है। मैंने तो महज खानापूरी कर दी है। शब्द भी इस ग्रन्थ में अक्सर मुश्किल और अप्रचलित व्यवहृत हुये हैं। इसलिये मुझे वारम्बार कोष के पन्ने उलटने पड़े। परन्तु मैंने इस बात का बहुत प्रयत्न किया है कि हिन्दी-भाषा का प्रवाह, अनुवाद में, न बिगड़ने पावे और स्वामी जी के भावों की हत्या न हो। अर्थ का अनर्थ करना, शब्दों को तोड़-मरोड़ कर अपना मतलब हल करना और प्रसंग-वश कथानक की कमी पूरी करना, मैंने उचित नहीं समझा। जहाँ तक सम्भव हुआ, प्रत्येक श्लोक का अर्थ उसके नीचे लिख दिया है। कहीं-कहीं कई श्लोकों का अर्थ इकट्ठा करना पड़ा है। विषय की गम्भीरता तथा भाषा के गौरव पर मेरी सदा दृष्टि रही है। जहाँ-कहीं उचित समझा, पाद-टिप्पणियाँ भी जोड़ दी हैं। ऐतिहासिक घटनाओं, छन्दों के लक्षण और पारिभाषिक शब्दों पर ही अक्सर ये टिप्पणियाँ लिखी गई हैं। संस्कृत न जानने वाला स्वामी जी का शिष्य भी, चाहे तो, केवल हिन्दी-उल्था पढ़कर स्वामीजी की रचनाशैली और "वराह-चरित्रम्" के उपदेशों से पूरा पूरा लाभ उठा सकता है।

बहुत आग्रह करने पर स्वामी जी ने मुझे अपने जीवन की कुछ घटनायें बतलाई थीं। सन् १९१७ ई० में मैंने उन्हें लिख लिया था। आगे चलकर, शायद १९१८ में, मैंने कोशिश की कि "सरस्वती" के लिये स्वामीजी का एक संक्षिप्त जीवन-चरित्र लिख डालूं। बचपन का जोश अक्सर अधूरा रह जाता है, और मैं यह जीवन चरित्र पूरा न कर सका। जब "वराह-चरित्रम" के छपने का प्रबन्ध हो गया, तो मैंने सोचा कि स्वामीजी का जीवन-चरित्र भी इसी के साथ छप जाना चाहिये। उनके जीवन सम्बन्धी जो मसाला मेरे पास था उसी के आधार पर वर्तमान जीवन-चरित्र लिखा गया है। स्वामी जी का ८४ वर्ष की अवस्था में स्वर्ग-वास हुआ था। इतने बड़े प्रशस्त काल में स्वामी जी ने जो कुछ किया, उसको लिखने के लिये बहुत समय और परिश्रम की आवश्यकता है। परन्तु उनके जीवन का सार चालिस या पचास पृष्ठों में बखूवी लिखा जा सकता है। इसी विचार से मैंने उनके जीवन-चरित्र को ज्यादा तूल-तवील नहीं किया है। आशा है, स्वामी जी के भक्तों को इस संक्षिप्त जीवन-चरित्र से काफ़ी लाभ पहुँचेगा। इस पुस्तक में स्वामी जी के जो दो चित्र प्रकाशित किये गये हैं, उनका श्रेय धरसौना के ठा० बंशी सिंह साहेब और पारापाटी के ठा० रामबदन सिंह साहेब को है। यों तो स्वामी जी के अनेकों-चित्र लोगों के पास विद्यमान हैं, तथापि इन दोनों चित्रों के छापने का एक विशेष प्रयोजन है।

पहला चित्र स्वामी जी को बहुत पसन्द था, और दूसरा चित्र उनके भौतिक शरीर का अन्तिम स्मारक है। इन चित्रों के मुहय्या करने के लिये मैं उक्त दोनों ठाकुर साहबान का आभारी तो हूँ ही, ठा० शिवनाथ सिंह साहेब (धरसौना) को भी मैं अनेकों धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने अपने घर के स्वामी जी के कई छोटे-बड़े चित्र मेरे पास, बड़ी खुशी और प्रसन्नता से, भेज दिये थे।

जिन मित्रों ने प्रूफ देखने, कापी तैय्यार करने और मेरी ओर से टिप्पणियाँ लिखने में सहायता की है, उनका मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। कापी तैय्यार करने के मामिले में, मैं अपने मित्र ठा० दूधनाथ सिंह साहेब, मुख़तार, का ख़ास तौर से शुक्रगुज़ार हूँ। मुख़तार साहेब ने कई रातें जाग कर मेरे लिये कापियाँ तैय्यार की हैं। वट्टीनिवासी ठा० राजेन्द्र सिंह साहेब भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। आपने अपने स्वाभाविक उत्साह से मुझे सदा उत्तेजित और उत्साहित किया है। सच बात तो यह है कि इन मित्रों की सहायता बिना "वराह-चरित्रम्" का ऐसा सुन्दर संस्करण निकालना मेरी शक्ति के बाहर था। बहुत परिश्रम-पूर्वक प्रूफ़ देखने पर भी, दृष्टि-दोष से, पुस्तक में अनेकों त्रुटियाँ रह गई हैं। मुझे इन ग़लतियों के लिए अत्यन्त खेद है।

अनुवाद के विषय में मैं एक बात कहना भूल गया। मेरे पुराने मित्र ब्राह्मणपुर-निवासी, ठा० रामअधार सिंह साहेब का ही यह काम था जो उन्होंने "वराह-चरित्रम्" की पुरानी लिखावट में अपनी आंखें गड़ा-गड़ा के मेरे लिये आधुनिक संस्कृत-चतुस्पाद-श्लोक निकाले। जब मैं हतोत्साह हो जाता और, अस्वस्थता के कारण, पोथी उठाके अलग रख देता था, तो उत्साही ठा० रामअधार सिंह जी मुझे तसल्ली देते, ढाँढ़स बँधाते और अनुवाद का काम शुरू कर देते थे। मैं उनकी सहायता कभी भी नहीं भूल सकता। मुझे तो बड़ा संकोच है कि कुल का कुल अनुवाद मैं अपना ही कैसे कहूँ।

हितैषी-प्रेस के निहायत जिन्दा-दिल और कर्म-पटु मालिक, मुन्शी महादुरराम साहब, का मैं, इस मामले में, सदा कृतज्ञ रहूँगा। इन्होंने बड़ी तत्परता और परिश्रम से "वराह-चरित्रम्" की छपाई में मनोयोग दिया है। मैं थक गया हूँगा, निरुत्साह हो गया हूँगा, परन्तु मुन्शी महादुरराम साहेब न थके, न निरुत्साह हुये। पुस्तक के लिये इन्होंने नये टाइप मंगाये और छपाई का काम बड़ी सफाई से अन्जाम दिया। मैं मुन्शी महादुरराम साहब को तहे-दिल से धन्यवाद देता हूँ।

उस जगन्नियन्ता की असीम कृपा से और स्वामी अचलानन्दगिरि महाराज के अमोघ आशीर्वादों से, आज मैं अपने जीवन के पहले उत्तरदायित्व से उत्तीर्ण हुआ। जिस भार की मुझे वर्षों से चिन्ता थी, आज वह मेरे कन्धों से अलग हो रहा है,—यह सोच कर मुझे सुख भी बहुत है, और दुख भी कम नहीं। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि वह मुझमें शक्ति दे कि मैं अपने उत्तरदायित्व का उचित मूल्य समझूँ और उसे ठीक तरह से पूरा कर सकूं। स्वामीजी की आत्मा को मेरे इस परिश्रम से सन्तोष प्राप्त हो और उनके हज़ारों भक्तों को सुख मिलै, यही मेरी अन्तिम अभिलाषा है। क्योंकि, महाकवि कालिदास ने कहा है—

क्लेशः फलेन हि पुनर्नवताम् विधत्ते।

भूतभैरव, काशी।
२७ अगस्त, १६२६ ई०

विश्वनाथसिंह

सन्यासि-प्रवर श्रीमदचलानन्द गिरि गोस्वामी।

पहला खण्ड।

राजपूताने में बीकानेर नामक एक बहुत प्रसिद्ध राज्य है। बागड़-देश उसी राज्य का एक खण्ड है। सूरतगढ़ से तीन कोस पूर्व-दक्षिण, उसमें, रामपुर एक छोटा-सा ग्राम है। वहीं के निवासी श्रीमट्टिक्कू शर्मा की सह-धर्मिणी, स्वनाम-धन्या केसरी देवी, के गर्भ से इस नररत्न का जन्म, विक्रमीय सम्वत् १८९२ भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी को, हुआ। माता-पिता साधारण स्थिति के ब्राह्मण-गृहस्थ थे। शिशु-पुत्र, भविष्य में निष्कल–ब्रह्म-लीन योगी, का पालन-पोषण तो बड़े लाड़-प्यार से हुआ; किन्तु, स्वयं अनपढ़ होने और अन्य कई कारणों से, मां-बाप ने पठन-पाठन का समुचित प्रबन्ध न किया। हमारे योगीजी बालकों के सँग बालक्रीड़ा करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकते थे ?

पर होन-हार हो के ही रहता है। इस अद्वितीय बालक को तो भविष्य में स्वामी श्रीमदचलानन्द होना था; फिर वह कब तक लड़कों में इस प्रकार खेलता ? उपाय करने लगे। यत्न भी, पूर्व्व-जन्म के पुण्योदय से, बहुत कठिन न था। और, श्रद्धा-भक्ति ने समुद्योग सफल किया—बालक को अपने अन्तरात्मानुमोदित-शुभानुष्ठान में सफलता प्राप्त हुई, वे सिद्धि-काम हो ही गये !—

"जापर जाकर सत्य सनेहू; सो तेहि मिलत न कछु सन्देहू।"

उसी ग्राम, रामपुर, में एक वृद्ध महात्मा निवास करते थे। उनका शुभ नाम, स्वामीजी के मुख से, श्रीमद्धीरा गोस्वामी सुना गया है—लोगों में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। नित्यश: बहुतेरे, उनकी पर्ण-शाला पर ज्ञानोपदेश श्रवणार्थ एवं विषम-विश्व-वेदना से मुक्ति–लाभार्थ, सायं–सकाल, आया करते थे। बाबाजी में उनकी अनन्य भक्ति थी; और साधु-महात्मा भी, उनकी प्रगाढ़-प्रीति समझ कर, उनको प्रेम-पूर्वक बैठने की आज्ञा देते तथा उनकी ज्ञान-पिपासा बुझाया करते थे। इस तरह वे यति-वर्य्यजी के उपदेशों से सन्तृप्त हो अपने-अपने घर चले जाते। यही क्रम बहुत दिनों तक, उस ग्राम में, प्रचलित रहा।

बालकों का हृदय निर्मल-दर्पण के समान शुद्ध होता है। उस पर सभी प्रकार के दृश्यों का प्रतिविम्ब आसानी से उतर सकता है। केवल चित्रकार की चतुराई की आवश्यकता है। यदि उसकी प्रवृति अच्छी हुई, वह सुरुचिवान् हुआ, तो प्रतिविम्ब अच्छे ही दृश्यों का लेगा, और, यदि कुत्सित-प्रकृति का पुरुष निकला,

उसकी रुचि अच्छी न हुई, तो, बिना कहे-सुने ही, कु-दृश्यों का चित्र लेगा ! इसी निमित्त अनुभवी विद्वानों का कहना है कि बालकों को सदैव, सु-शिक्षा देकर, अच्छी सँगति में रखने का उद्योग करना चाहिए; उन्हें जीवन-नाश-कारी दुर्व्यसनों से पृथक् रखने का सर्वथा प्रबन्ध करना चाहिये। यदि उनके अभिभावक इस नियम के विमुख काम करेंगे, तो फल भी उलटा ही होगा। जिस पुत्र को वे इतने परिश्रम से पालते-पोषते हैं, जिससे उनको बड़ी-बड़ी आशाएँ रहती हैं, यदि वह, उनकी लापरवाही से-उनकी आशा के प्रतिकूल निकला, तो आश्चर्य्य ही कौन सा है ? बालक का इसमें दोष ही क्या दे सकते हैं ? वह तो हिताहित का विवेचन कर सकता नहीं; जैसे आपने उसे चलने को कहा वैसी ही चाल वह चला। अब यदि वह आप के पथ का पथिक न रहा, दूसरे ही मार्ग का अनुसरण कर रहा है, तो इसमें तो कोई विचित्रता ही नहीं है; यह तो एक स्वाभाविक, किन्तु साधारण सी बात है; क्योंकि आज आप बबूल रोप कर आम के फल की चाह कर रहे हैं ! अतएव सब का निष्कर्ष यह हुआ कि यदि आप अपने बालकों से भविष्य में भलाई की आशा रखना चाहें—उन्हें सत्पुरुषों की श्रेणी में बैठने योग्य बनाना चाहें—तो इसके लिए बाल-काल से ही, प्रयत्न करना आरम्भ कर दीजिये। कारण कि उस समय जो कुछ उन्हें सिखाइयेगा, वे अनायास उसे सीख लेंगे और आमरण न भूलेंगे। आपकी भली-बुरी बातें उनके कोमल अन्तःकरण पर व्रज-रेख हो जांयगी। आपके सदसदुपदेश उन्हें कल्पान्तर में भी न भूलेंगे। अतः सु-सन्तति के इच्छुकों को यह कभी न भूलना चाहिये।

गांव के बूढ़ों के साथ बच्चे भी कुटीर पर जाया करते थे। कहना व्यर्थ है कि उन्हीं में हमारे पूज्यपाद स्वामीजी भी, दिगम्बर-रूप में, रहते थे। सब के चले आने पर भी ये वहीं रह कर बाल-लीला किया करते थे। होते-होते बाबाजी के चरणों में इनकी भक्ति बढ़ने लगी। उनकी आज्ञा पाकर, आश्रम के छोटे मोटे कामों के करने में, महात्माजी के आज्ञा-पालन में, इन्हें बड़ा आनन्द आने लगा। कभी-कभी रात-दिन वहीं रह जाते। धीरे-धीरे अब घर की माया भी छूटने लगी, तथा बाबाजी के उपदेशों में नित्य-नवीन-प्रीति उत्पन्न होने लगी। स्वामीजी उन्हें संसार की असारता, गृह-बन्धन, माया-मोह-आदि की विषम-कथा सुनाते एवं उनसे बच कर अनन्त भगवान् के चरणों में रम जाने का उपदेश किया करते थे। वे नित्य कहते थे कि यह जगत मिथ्या, सत्याभास के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। यदि इसमें कुछ सत्य है, तो वह 'सत्य' है। उसी सत्य—उसी अव्यय, अविकारी, शाश्वत् सत्य—को खोजने वाले पुरुष ही अक्षय-कीर्त्ति-लाभ कर सकते हैं, दूसरे लोग तो केवल भूले ही नहीं, वरञ्च मृग-तृष्णा के जाल में फँसे हुए हैं। यह जगत् ही भुजग होकर भी रज्जू और रज्जू होकर भी भुजग सा जान पड़ता है—इसका कोई ठीक पता नहीं है। अतएव बुद्धिमान् को इसमें के सत्यासत्य का निराकरण, हंसवत्, कर लेना ही उचित है। इसलिये तुम्हें भी इस माया-मय-पंक से निकल कर, शुद्ध-विमल ब्रह्म-पयोनिधि में स्नान करके अपनी आत्मा को पवित्र कर लेना चाहिये। देखो, यह कैसी विकट लीला है कि लाखों मनुष्य, कीट-पतंगो की नाईं, प्रति-दिन जन्मते और मृत्यु-गत होते रहते हैं; परन्तु क्या किसी को यश भी मिला है ? हां, केवल उन्हीं

महामनावों को, जो इस व्यर्थ-अनर्थ-कर-व्यापार को जलाञ्जलि दे, ज्योतिर्मय-ब्रह्म के ध्यान में परिमग्न रहते, अथच संसार का वास्तविक कल्याण करते हैं। इस जगज्जाल के फन्दे से गला निकालो और शान्ति-पुञ्ज-निकुञ्ज में स्वच्छन्द विहार करो। कु-धन्धा का परित्याग कर सत्कर्म में निरत हो। संसार में जितनी पीड़ायें लोगों को दुःख दे रही हैं, सबका मूल-तत्व ईर्षा और मोह ही हैं। इन्हें त्यागो। बस, कल्याण ही है। देर करने से विफल होने का भय रहता है, और जीवनकाल, नदी के स्रोत के समान, अविरल बह रहा है। अतः सुकर्म करने में दीर्घ-सूत्रतादि अवगुणों के वशी-भूत न होकर शीघ्रता करनी चाहिये॥ इत्यादि।

उदूर्ध्वोक्त नियम के अनुसार और महात्मा जी के वचनों में अनन्य-भक्ति होने के कारण, ये सत्योपदेश शुद्धात्मा बालक के हृत्पटल पर जम से गये। यह ज्ञान-वार्त्ता अन्तःकरण पर व्रजांक-सी हो गई। पूर्व-जन्म की सुकृति उदयी-भूत हुई, कृत-पुण्य ने सहायता की, पिछले कर्म्मों ने अपना सु-फल आगे रख दिया; फिर क्या था, दिव्य-चक्षु से मिथ्या-मायावरण का विनाश हुआ और विमल-ज्ञानाक्ष की दीप्ति में सत्य-स्वरूप सच्चिदानन्द की क्रान्ति-कला विभासित हुई। सारे पाखण्ड-पूरित-व्यवसाय अनृत प्रतीत होने लगे। सत्य-सागर-समुत्थित, आतप्त-तृप्त-कर, शरणागत-हित-वीचि-स्वरुप देख और अनन्त सुखानुभव कर के मन और अन्तरात्मा को बड़ी प्रसन्नता हुई। तत्क्षण ही मुख से निकल पड़ा—"स्वामिन्! जगदुद्धार ही आप का व्रत है। मेरे बड़े भाग्य हैं, जो श्रीचरणों के दर्शन हुए। अब, प्रभो! दास को अपनाइये। जैसे आपने संसार की निस्सारता का उपदेश किया है, उसी प्रकार अब यह भी बतलाइये कि मुझे कौन सा मार्ग सुगम होगा। गुरो! अब मेरे नेत्रों के संमुख से यह मिथ्या-माया-वरण टूटा है; भवत्कृपा से सदसत् का भेद जान पड़ा है। अतएव अपनाकर कृत-कृत्य कीजिये।"

दयालु गुरु ने, अपने सदुपदेशों का बालक के अमल हृदय पर प्रभाव होते देख और उसकी प्राकृतिक श्रद्धा-भक्ति अनुमान कर, गुरु-मन्त्र से दीक्षित कर लिया। अब हमारे पूज्य स्वामी जी को मुँह-मागा फल मिल गया; इस कारण वे परम सुखी, अतएव आह्लादित, हुए। बाबा जी के चरणों में बैठ कर नित्य-प्रति उत्तम तथा संसार-हितकर उपदेश ग्रहण किया करते, और गुरु-सेवा में मनसा-वाचा-कर्मणा दत्त-चित्त रहते थे।

इस प्रकार कुछ काल व्यतीत हुआ और वृद्ध स्वामी हीरा गिरि का गोलोक-वास हो गया। हमारे स्वामी जी गुरु-वियोग से हुए तो बहुत खिन्न, पर उनका हृदय परलोक-गत महात्मा जी के सुन्दर, मोह-रहित उपदेशों से कूट-कूट कर भरा जा चुका था; अतएव इस आपतित-विपत्ति-जन्य दुःख को उन्होंने हँसते-हँसते सह लिया और उनके मृत-शरीर का अन्त्येष्टि-संस्कार यथा-विधि कर डाला। अब, उन्हें मठ बनाकर रहने का उपदेश तो था नहीं; लगे इधर-उधर घूमने। गुरु के आश्रम में रहकर आपको कुछ लिखने पढ़ने की भी शिक्षा मिली थी; पर वह पूर्ण न हो पाई थी कि स्वामी जी इस असार-संसार को

त्याग कर सिधार गये । शिक्षा अधूरी ही रह गई, और आप, सन्यासि-धर्मानुसार, महि-भ्रमण करने लग पड़े । आप को कुछ श्रीमद्भगवद्गीता के पद्य कण्ठ थे । उसी का प्रति दिन पाठ करते थे । घूमते-घूमते एक दिन एक पाखण्डी साधु से उनकी भेंट हो गई । हमारे स्वामी जी ने उनसे कुछ पढ़ने की लालसा प्रकट की; उन्होंने कहा कि पढ़ने लिखने में है ही क्या ? व्यर्थ का सिर पीटना ! अरे इस पढ़ने-लिखने-के प्रपंच को दूर करो, और "राम-राम" कहो । इसी से मुक्त हो-जाओगे । यही सबका सार है । यों तो पढ़ना-लिखना सभी जानते हैं, पर कोई कुछ कर भी सका है ? व्यर्थ का पढ़कर जी देना ! भला, यह कहां की बात है ! इस विपत्ति से छूटने के लिये ही तो घर-बार, प्रिया-पुत्र, सबको छोड़कर इस आश्रम-धर्म को स्वीकार किया, सो यहां भी वह आपत्ति न छूटी ! सदा बक-बंक करना ही बना रहा, तो फिर लाभ ही क्या ? अजी, जो गीता के श्लोक-च्लोक तुमने याद किये हैं, सब भुलवाकर "राम-राम" जपो । बस, सब ठीक ही है ! वृथा क्यों इस चक्कर में पड़कर परेशान होते हो ?—

"पढ़तव्यं तो मरतव्यं, न पढ़तव्यं तो मरतव्यं; फिर दांत खटा-खट क्यों करतव्यं !"

फिर क्या था, हमारे चरित-नायक के मन में ये बातें ऐसी जम गईं कि आप उनके अनन्य भक्त हो गये ! और सब पढ़ी-पढ़ाई भुलवाकर मिट्टी में मिला दी । जहां जाते, इन्हीं महाराज के किये हुए उपदेशों को सब से कहते और उद्दण्ड-भाव से जहां-तहां फिरा करते थे । यह क्रम सात-आठ वर्ष तक रहा । अन्त में, घूमते-फिरते, सम्वत १९२२ विक्रमीय में, हरद्वार पहुँचे । वहां एक ६० साधुओं की मण्डली थी। उसके महन्थ एक बड़े ही योग्य महात्मा थे । उनका नाम था—श्रीमदादित्य गिरि गोस्वामी । स्वामी जी के अनुनय विनय पर आपने उन्हें अपनी मण्डली में सम्मिलित कर लिया । इतने दिनों के अनन्तर, उनके भाग्य ने करवट बदली; सतसंग का स्वर्गीय-सुख पुनःप्राप्त हुआ ।

पूर्व्व-जन्म के सञ्चित-कर्म एवं इस जन्म के बड़े ही परिश्रम से सुसंगति उपलब्ध होती है । बिना महद्भाग्य के घोर नरक, रौरवागार, में बलात्कार निपतित करने वाले दुष्ट-संग का मूलोच्छेदन कर परम-कल्याणमय, लौकिक-पारलौकिक, सभी प्रकार के, देव-तुल्य-आनन्द को प्रदान करने वाला साधु-समागम नहीं हो सकता । यह बात त्रिकाल-सत्य और स्वयं सिद्ध है । जब जगन्नियन्ता प्रभु की महती दया होती है, तभी यह सन्त-समाज, इस सार-शून्य, विचित्र-चरित्रमय संसार में उत्पन्न हुए, नाना-देह-धारी, जीवों को प्राप्त होता अथच अपने उपदेश-कौस्तुभ-कलाप से उनके मानसिक अंग-प्रत्यंगों को विभूषित कर जगज्जीवन के पाद-पद्मों की अनन्य भक्ति का सुमधुर रस पिलाता है; अन्यथा यह सर्वथा असम्भव तथा इन्द्रिय-अग्राह्य पदार्थ है । अस्तु । जिस सत्संग की महिमा का इन्द्रादि देवता, नारदादि देवर्षि, भगवान् वेद-व्यासादि महामुनि, अमित सज्जन-वृन्द समादर करते हैं; जिसकी कृपा के सम्पूर्ण स्थिर-चर अभिलाषी हैं; जिसके असंख्य उपकारों से यह दैवी-सृष्टि तक उपकृत हुई है; अतएव, जिसके अपार गुणों का सु-कवि-समाज अहर्निशि यशोवर्णन करता रहता एवं बड़े-बड़े काव्य-ग्रन्थों की रचना किया करता है; जो सत्संग, भगवान्

की प्रेम-मूर्ति होकर, अणु-परमाणु में व्याप्त है; और जिसके न रहने से न जाने संसार की क्या गति होती, वही सु-संग-सुधा-रस आज हमारे पूज्य ऋषि को, भगवत्कृपा से सहज ही में, प्राप्त हो गया।

जब हम सांसारिक मनुष्यों को कोई तुच्छ-सी वस्तु भी मिल जाती है, तो हमारे आनन्द का वारापार नहीं रह जाता, हम फूले नहीं समाते! अतः जिस पुरुष को कोई अद्भुत वस्तु उपलब्ध हो जाय वह तो अपने को देवेश, इन्द्र, ही समझता है। वैसे ही आज हमारे माहात्मा जी को भी यह स्वर्ग-सुख प्रदायक अमूल्य रत्न श्री मत्स्वामी आदित्य गिरि का सहवास प्राप्त हो गया। न जाने उनके हृदयानन्द-सागर की वीचि-मालाएँ कितनी ऊँची और कितनी प्रचुरता से उठती हैं! उनसे उनके अन्तः करण की कैसी दशा है! अवश्य, वे आज बड़े ही आनन्दित होंगे।—"सन्त मिलन-सम सुख जग नाहीं!"

अब वे परम पूजनीय महन्थ जी के कृपा--पात्र हो गये। उनकी सेवा में ही उनका समस्त काल व्यतीत होने लगा। स्वामी जी की जो आज्ञा होती, झट करने को समुद्यत रहते। कोई बात ऐसी न होती, जिसे आप अपने अभिवन्दित गुरु के लिये करने को न प्रस्तुत हो जाते। आठो-याम, दिन-रात, यही काम था। अतएव स्वामी जी की आप पर सहज-प्रीति हो गई। वे नित्य इनको अच्छे-अच्छे उपदेश दिया करते थे।

कुछ दिन हरद्वार-वास करके, गंगा देवी की सेवा से सन्तुष्टि-वर-लाभ करके, मण्डली ने अन्यत्र गमन विचारा। आर्य्यों के प्रथम-निवास-स्थान पञ्जाब-देश की यात्रा सर्व-सम्मत से तै पाई। मार्ग-स्थ ग्रामों और वहां के निवासियों को आनन्दित करते हुये, उस देश में, यह मण्डली विचारने लगी। वीच-वीच में डेरा डाल कर कुछ मास तक कहीं रम भी जाते थे। यह क्रम ३ वर्ष तक जारी रहा, अर्थात ३ वर्ष पर्य्यन्त पञ्चाल-देश का पर्य्यटन होता रहा।

उस मण्डली में श्रीमत् शुकदेव गिरि गोस्वामी जैसे विद्वद्रत्न भी उपस्थित थे, जो सदा विद्या वारिध में तथा ब्रह्मानन्द-पयोनिधि में, निमग्न रहते थे। ऐसे ही और भी विद्या-प्रेमी भक्त-साधु थे। वे नित्य सरस्वती-आराधना में सन्निमग्न रहकर उस सुजन-सम्पन्ना मण्डली को विद्या-सौरभ से सुरभित किया करते थे। उनके प्रभाव से—उनकी इस प्रकार की वाणी-पूजा से--एवं श्री मन्महन्थ जी के उपदेश से, हमारे मानास्पद मुनि का विद्या-प्रेम नित्य नव-रूप से उद्बोधित अथच उद्दीप्त होने लगा। मन के समस्त कुतर्क तथा भ्रम-विभ्रम, सूर्य्योदय समय के अन्धकार के समान, दूरी-भूत होने लगे। मन पढ़ने-लिखने तथा सद्विद्या-प्राप्ति के निमित्त उत्कण्ठित हो उठा। बस, फिर क्या था, अपनी यह मनोभिलाषा आपने अपने सहगामियों पर प्रकट की, और स्वामी जी से आज्ञा लेकर पाठारम्भ भी कर दिया।

सन्यासी हैं, आपही विचार कर सकते हैं कि क्या पढ़ते। संस्कृत पढ़ना प्रारम्भ हुआ। बिना व्याकरण के किसी भाषा का कुछ भी तत्त्व नहीं जाना जा सकता,—व्याकरण ही भाषा का मूल-मन्त्र है; उसके बिना वह भाषा---"लवण बिना वह व्यञ्जन जैसे" है। अतः "सारस्वत" पढ़ने लगे।

इसके आचार्य्य उनके गुरु-भाई स्वामी शुकदेव गिरि नियत हुए। ये महाशय इन्हें नित्य बड़े परिश्रम से पढ़ाया करते और स्वामी जी भी पढ़ने में यथा-रीति श्रम करते थे।

देखा न आपने, संगति का कैसा प्रभाव पड़ता है? एक समय वह था जब, उस पाखण्ड-मतानुयायी व्यर्थ साधु-नामधारी व्यक्ति के दुष्टोपदेश से, आदि की पढ़ी-पढ़ाई भी मिट्टी में मिलाकर, उद्दण्ड-भाव धारण कर लिया था, और आज एक यह समय है कि, इन विश्व-हितकारी सन्त महानुभावों के सदुपदेश से, उन सभी दुराशयों को जलाञ्जलि दे, वाग्देवी, सरस्वती, के चरण-कमल-चञ्चरीक हो रहे हैं। धन्य हो, सन्तो! सचमुचही तुम अखिल-हित-कर्मों की प्रति-मूर्ति हो! निस्सन्देह, तुम्हारे ही पुण्य-फल से, इस जघन्य समय में भी, धरा-धाम पर धर्म केवल एक ही पद से सञ्चारित हो रहा है! इसी से तुम्हारे चरणों के रजों की जगत् वाञ्छना करता तथा उसे शीशपर चढ़ाकर विगत-पाप हो जाता है। अतः तुम्हें, तुम्हारे इस सत्कर्म के लिये, ईश्वर ने भी तो मान-पद दिया है—सब के पूजनीय हो रहे हो!

पञ्जाब में ६ मास भी भली प्रकार न पढ़ पाये थे कि मण्डली ने, माघ-मेले के सम्बन्ध में, प्रयाग की ओर प्रस्थान कर दिया। साथ-साथ स्वामी जी की प्रीति-पूर्वक सेवा करते हुए हमारे चरित नायक प्रयाग पहुँचे। मेले के दिनों वहां त्रिवेणी में स्नान करके तीर्थ-राज की यथावत् यात्रा की। अब यह निश्चय हुआ कि सम्पूर्ण भारतवर्ष की यात्रा की जाय। अतः पूर्व्वीय-अञ्चल को पार करते हुए रामेश्वर तथा द्वारका जाना तै पाया। सब लोग काशी की ओर प्रस्थानित हुए। शीघ्र ही चलकर वहां पहुँच भी गये। स्वामी जी ने इसे सम्वत् १९२६ विक्रमीय की घटना बताई है। काशी का विहित-कर्म करके सब लोग गया-तीर्थ की यात्रा करने को चलपड़े। बीच-बीच में ठहरते और ग्राम्य-जनों को दर्शन तथा उपदेशों से सुख देते हुए, पटना-मुंगेर को पार किया और तत्कालीन भारतवर्ष की राजधानी, कलकत्ता, में पहुँचे। वहां का विभव तथा नगर की अद्भुत शोभा देखते हुए वहीं कुछ दिनों तक अटक रहे। यह सब कुछ हुआ, पर आप पढ़ते ही गये। यही नहीं, वरञ्च अपने आश्रित विद्यार्थियों को भी नित्यशः पढ़ाया करते थे।

वहां से सन्तुष्ट होकर आगे बढ़ने का विचार हुआ। स्वामी जी के लिये मण्डली ने एक बैल गाड़ी, भाड़े पर, ठीक की। उसी पर सारी सामग्री, उनके साथ ही, लादी गई। उसका भाड़ा था—४०)। लोग सदैव दस कोस चल कर विश्रान्ति लेते थे। इस प्रकार के उपक्रम से जगन्नाथ-पुरी के निकट पहुँच गये, और उनके दर्शनों के लिये कमल-भृंगवत् आकुल हो उठे। दूसरे ही दिन पहुँच कर जगन्नाथ के दर्शन किये। दर्शनानतर उनकी शास्त्रानुमोदित-विधि से पूजार्चा की। सबको मनोवांछित-कर्म-सिद्ध होते देख अपार सुख हुआ, और हर्ष की सीमा न रही।

इस भांति उस मण्डली ने १५ दिन तक पुरी-वास किया। यद्यपि रामेश्वर तीर्थ से होते हुए

द्वारका जाने की इच्छा थी, परन्तु, कुछ कारणों वश, आगे न बढ़ सके। वहीं से लौट आने का प्रस्ताव हुआ। यह भी कहा गया कि जिस मार्ग से आये थे, पुनः उसी से लौट चलें। मार्ग में पुनः कलकत्ता, वैजनाथ, आदि स्थानों में ठहर कर विश्राम करते हुए, गया पहुँचे। मण्डली ने वहां एक लम्बी विश्रान्ति लेनी चाही। अतएव श्री गदाधर देव के चरणों में ४ मास पर्य्यन्त उफल पड़े। इस समय तक हमारे स्वामीजी का व्याकरण समाप्त हो गया था। विद्या-रस-रसिकों को बिना उनकी पूरी इच्छा हुए शान्ति कहां? आगे और पढ़ने की मनोवृत्ति ने धर दबोचा। अतः व्याकरण की दूसरी पुस्तक पढ़नी चाही। वहां के कुछ विद्यार्थियों को "चन्द्रिका" पढ़ते देख उसी को घोटना विचारा।

पुस्तक तो पास में थी नहीं; अतः कहीं से ढूढ़ने का विचार मन में उत्थित-पतित होने लगा। मोल भी न मिल सकी। इस लिये मन को कुछ उद्विघ्नता सी जान पड़ी। अब क्या करें? पर, "जापर जाकर सत्य सनेहू; सो तेहि मिलत न कछु सन्देहू।" के अनुसार जब सरस्वती-देवी के चरणों में घनिष्ट प्रीति है—जब उनकी पूजा को मन रह-रह कर आकुल हो रहा है, उन से उसका सहज-स्नेह हो गया है--तो वे उसकी मनःकामना अवश्यमेव पूर्ण करेंगी—उसे अपने पद-कमल का किंकर बनाकर अवश्य ही अपने उदार तथा वात्सल्य-पूर्ण-हृदय का परिचय देवेंगी। हां, चाहे परीक्षा के निमित्त विपत्तियों के पर्वत भले ही टूट लें। किन्तु अन्तारात्मानुमोदित महत्कर्म को इनसे तिल भर की भी अनिष्ट-सम्भावना नहीं। चाहिये केवल स्थिर चित्त और समुद्योगबल। फिर क्या है, सफलता अपनी मोल ली हुई दासी है।

कुछ लोगों की नाईं हमारे स्वामी जी केवल विचार ही करके नहीं छोड़ देने वाले हैं; वे तो हैं सच्चे कर्म-योगी। अतः ऐसे समय में क्यों न सफल काम होते?

नित्य उन विद्यार्थियों से एक पुस्तक मांग लाते और उसकी सहायता से अपने पूर्व्व-आचार्य्य के समीप पढ़ा करते थे। कुछ दिनों पश्चात् उसकी एक प्रति-लिपि कर डाली। फिर उसी से पढ़ने लगे। केवल उन्हें अपने ही न पढ़ना था--उन्हें तो था इस मानव-देह से उपकार का कल्प-वृक्ष लगाना। अतएव दूसरे विद्यार्थियों को भी पढ़ाया करते थे। उधर तो स्वयं इतने परिश्रम से मनन करते, और इधर फिर दूने श्रम से शिक्षार्थियों को पढ़ाते थे। यही नहीं, बाबाजी की सेवा भी आपही के सिर पर थी। इतने कार्य्यों के होते हुए भी आप कभी अभिलषित कर्म में अणुमात्र भी शिथिल न हुए। विद्या-प्रेम हो तो ऐसा!—"होनहार बिरवान के, होत चीकने पात।"

जो श्रम से मुख मोड़ लेता है, उसे एक आई हुई विपत्ति मान बैठता है, भला, उसका भी मनोरथ कभी पूर्ण होता है? एतद्भिन्न जो उसे अपने साहस और वीर्य्य-बल का परीक्षक समझ कर परीक्षार्थ पूर्णतया प्रस्तुत हो जाते हैं, उसे सहर्ष सर माथे चढ़ाते हैं, फिर वे भला क्यों न सिद्ध-काम

हों ? अवश्य, वे महापुरुष और सच्चे साहसी हैं । ऐसे ही नर-पुङ्गवों का नाम मानव-समाज में प्रातः स्मरणीय होता है, श्रम हीन का-पुरुषों का नहीं ।

इस भांति परोपकार में दत्त-चित्त हो, आपतित कष्ट से मुठभेड़ करते हुए, बोध गया में ३ मास तक, उक्त व्याकरण का मन्थन करते रहे । अन्ततः मण्डली विश्वनाथ-पुरी, काशी-धाम, को प्रास्थानित हुई । आप भी उसके साथ चल पड़े । पूर्ववत् चलते हुए पुनीत काशी नगरी को प्राप्त कर लोगों के आनन्द की सीमा न रही । अतः लोगों का विचार कुछ दिनों तक काशी-वास का हुआ । ठहर भी गये । वहां की क्रिया विधिवत करने लगे । हमारे चरित-नायक सर्वथा गुरु-सेवा में संलग्न रहते थे । उनकी पालकी के साथ नित्य गंगा-स्नान और विश्वनाथजी के दर्शनार्थ जाया करते थे ।

इस प्रकार काशी निवास करते हुए मण्डली ने कुछ दिन बिताये । इसी बीच में हमारे पूजनीय ऋषि को मनुष्य-हन्ता सन्निपात रोग हो गया । और मण्डली ने पञ्जाब जाना चाहा । लोगों ने इन्हें भी साथ चलने को कहा; पर ये थे असमर्थ । अतएव साथ न दे सके । स्वामी आदित्य गिरि ने उन्हें यहीं ठहरने की अनुमति दी और कहा—"जब अच्छा हो जाय, हमारे पास लिखना । हम मार्ग-व्यय भेज देंगे चले आना । इस समय हमें जाने दो; तुम यहीं रहकर गंगा और विश्वनाथ जी की पूजा करके आरोग्य-लाभ करो । शुभम्भूयात ।"

यह आदेश दे गुरु-देव समण्डल यात्रा को उद्यत हुए और आप उनकी आज्ञा के अनुसार काशी-सेवन करने लगे । मण्डली तो चलते-चलते हरद्वार पहुँची और आप यहीं रह गये । पूर्व पुण्य के बल से सन्निपात तो अच्छा हो गया; पर एक दूसराही रोग उठ खड़ा हुआ । यह रोग ४, ५ वर्ष तक रहा । भयानक शिरोवेदना होती थी । अनेकों औषधियां की गईं; परन्तु कुछ फल न हुआ ।

काशी में रहकर आप वहीं सरस्वती-आराधना किया करते थे । नित्य औरों से पढ़ते और दूसरे विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे । इस प्रकार दूना श्रम करना पड़ता था; इसी लिये यह रोग और भी भयानक हो उठा ।

जिस पुस्तक से आप अपना पाठ्क्रम चला रहे थे, वह उनकी न थी; वह एक विद्यार्थी की मँगनी पोथी थी । एक दिन उसी पुस्तक से पढ़ रहे थे कि इतने में वह विद्यार्थी आया और अपनी पुस्तक ले गया । अब आपके पास कोई पुस्तक न बची, जिससे पढ़ते । इस प्रकार विद्याभ्यास में विघ्न-बाधा उपस्थित होते देख आपको बड़ी ही अन्तर्वेदना हुई । अतः आपने दुखी होकर श्री स्वामी जी के पास लिखा। स्वामीजी ने कहा--"जाने दो; जितना पढ़ा है वही बहुत है । उसी से तुम पारंगामी तत्व वेत्ता हो जाओगे। मेरा आशीर्वचन मानो ।"

सद्गुरुओं की वाणी सदा फलवती और सत्य होती है । जिस भक्त-शिष्य के ऊपर वे प्रसन्न हो जांय, वह निहालो-निहाल हो जाता है—उसकी समस्त अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं । हमारे स्वामी

जी ऐसे ही भक्त-शिष्य थे और गुरुदेव भी उनके बड़े प्रेमी थे। आपने उनकी सेवा तन-मन-वचन से की थी। अतः उनका प्रसन्न होकर वर देना सफल हुआ,—आप पूर्ण विद्वान् हो गये।

कुछ दिनों के अनन्तर, हरद्वार ही में, श्रीमदादित्य गिरि स्वामी का शरीर-पात हो गया। अब कोई मण्डली का स्वामी न रह गया। महन्थ-पद पर प्रतिष्ठित होने योग्य दोही पुरुष थे—एक हमारे यति-वर्य्य जी, दूसरे स्वामी शुकदेव गिरि। दूसरे स्वामी ने इनका स्वत्व जानकर इनके पास एक पत्र लिखा। उसमें गुरु जी के लोकान्तरित होने के कारुणिक सम्वाद के पश्चात् आपसे गुरु-पद पर आरूढ होकर उसकी शोभा बढ़ाने की अनरोध-मय प्रार्थना की गई थी। यह शीघ्र ही चले आनेकी विनय सुनकर स्वामी जी का भी उत्तर सुन लीजिये। वह कितना स्वार्थ-त्याग-मय और ओज-गुण-पूर्ण है, वह विचारते ही बनता है। इस उत्तर का सारांश कुछ-कुछ इस प्रकार है।

"मुझे अपने परम पूजनीय स्वामी जी की मृत्यु से बड़ा दुःख है। वेही हमारे आराध्य देव और ज्ञान-विधायक गुरु थे। उन्हीं की सत्कृपा से हम पशु भी मनुष्य-गुण के कुछ-कुछ भागी हो चले थे। पर विधाता की गति कुछ-निराली ही है। वे मनुष्य-इच्छा के सर्वथैव विरुद्ध ही करते हैं। मनुष्य सोचता कुछ और है, और ईश्वर करते हैं कुछ और। उनकी लीला जानी नहीं जाती। असम्भव को सम्भव और सम्भव को असम्भव करने की क्रिया में तो मानो वे सिद्ध हस्त हैं—इसमें कोई भी उन-सा जगत् में नहीं है। वे सब से बली हैं। पर, तौ भी हमें अधीर न होना चाहिये। सदा कर्त्तृ-पक्षका ही समर्थन करना और इसी पर दृढ़ रहना हमारा परम-कर्त्तव्य है। स्वर्गीय स्वामी जी का भी ऐसा ही उपदेश है। उचित मार्ग का अनुसरण करने पर भी यदि विपद्-उपस्थित हो, तो उसे ईश्वर की निरी इच्छा समझ कर ही, धैर्य्य-पूर्वक, सहना श्रेयस्कर है। अतः अब स्वनाम धन्य गुरु-देव के विषय में शोक करना व्यर्थ है। क्योंकि, हमें पूर्ण आशा है, वे बड़े सुख से स्वर्ग-लोक में विराजमान हैं।

"रही दूसरी बात ! सो क्या मैं आप ही से उक्त पद को सुशोभित करने का नम्र निवेदन नहीं कर सकता ? आप श्रेष्ठ हैं, और सब प्रकार से योग्य भी हैं। अतः उस गौरवमय पद पर आप ही प्रतिष्ठित होकर उसकी मान वृद्धि करें। मैं उसके योग्य नहीं। मुझपर यह गुरुतम भार न लादिये। मैं यहीं काशी में रह कर, भिक्षा-वृत्ति से ही, भगवद्-भजन में काल बिता दूँगा। मैं शासक नहीं होना चाहता और न उसकी मुझे कुछ अभिलाषा ही है। सन्यासियों के लिये भिक्षा ही बहुत है। किमधिकं विज्ञ-जनेषु !"

देखिये तो, कितना उच्च-भाव है ! महन्थी मिल रही है, उसके देने के लिये प्रार्थना की जा रही है; पर आप को वह पसन्द नहीं ! भीख मांग के खायेंगे—भूखे रहेगें; पर "महन्थ" बनकर गद्दी पर न बैठेंगे और न ६० चेलों के स्वामी ही बनकर पुजायेंगे ! क्यों न हो, आप हैं तो महापुरुष न ! और महापुरुष ही क्यों—सन्यासी—सम्पूर्ण कामनाओं का नाश करने वाले !

हाँ, और, यदि कहीं महन्थ-पद स्वीकार कर लेते, तो हम नारकीय प्राणियों को कौन रौरवागार से बाहर करता ? उन्हें तो था हमें सुधारना और भगवान् की अनन्य-भक्ति प्रदान करना, फिर वे भला मन्डली के प्रधान क्यों बनने लगे ? जान पड़ता है, हम 'कठेहर' और 'डोभी' परगनों के निवासियों ने कोई, किसी युग में, महत्पुण्य किया था, जिसके वशी भूत होकर आप को हमारे यहाँ आना और सदुपदेशामृत से सिञ्चित करना पड़ा । चाहे जो हो, हम बड़े भाग्यमान् और पुण्यमान् हैं ।

स्वामी जी का यह उचित और प्रीतिमय पत्र हरद्वार पहुँचा । भेजने वाले लोगों ने पढ़ा। निश्चय हुआ कि अब स्वामी श्रीमदचलानन्द जी को वे महन्थ-रूप में न पा सकेंगे । अतः उन्हें उन्हीं शुकदेव गिरीजी को ही आपना महन्थ वरण करना पड़ा । इधर से वे निराश हो गये ।

स्वामीजी काशी में रहने लगे । वही पढ़ने-पढ़ाने का क्रम बना रहा, और शिरोबाधा और भी बढ़ चली । औषधि-पथ्य करते-करते थक गये । कुछ फल न हुआ । जिन लोगों से आप की मित्रता थी, सभों ने इससे बचने का एक उपाय बताया । वस्तुतः उनका उपाय बड़ा ही उत्तम और सत्य था । लोगों ने सम्मति दी कि आप नगर के बाहर शुद्ध जल-वायु का सेवन करें । इससे सभी प्रकार के रोग दूर हो जायँगे । नगर का जल-वायु दूषित और विकारवान् है, उसीसे यह दशा हो रही है । देहातों में आप की खूब देव-तुल्य प्रतिष्ठा भी होगी और रोग-मुक्त भी हो जांयगे । एक और, और सबसे बढ़कर, यह लाभ होगा कि वहां के श्रम-जीवी अज्ञान मनुष्य आपके उपदेश से सुधर कर पवित्र हो जांयगे ।

आप के मन में ये बातें बैठ गईं । आप को भी ये उत्तम प्रतीत हुईं । और, सबके ऊपर, हम लोगों का पुण्योदय हुआ, अतः आपने नगर छोड़कर गांव में आने की बात मान ली और चलने को उद्यत भी हो गये । सम्वत् १९३२ के पौष-मास में आपने, उद्धोक्त कारणों से प्रेरित हो कर, काशीधाम से उत्तर की ओर प्रस्थान किया ।

दूसरा खण्ड ।

पाठको ! यहाँ तक तो आप ने स्वामी जी की, जन्म-काल से आरम्भ करके काशी-त्याग तक की, जीवन-कथा पढ़ ली । अब आगे की कथा सुनिये ।

नगर से आप उत्तर-दिशा को चल पड़े । ज्योंही बाहर निकले कि बनारस-आजमगढ़-रोड की पक्की सड़क मिल गई । बस, उसी को अपना पथ बना लिया और आगे बढ़े । किनारों पर लगे हुए हरे-भरे वृक्षों और निकटस्थ ग्रामों, बाज़ारों और चट्टियों का सुन्दर मनोहर दृश्य देखते हुए बराबर बढ़ते ही गये । कुछ ही देर में, पाण्डेपुर, इमिलिया और अल्लौपुर लाँघ कर, चोलापुर नामक

नगर में पहुँचे । उस स्थान को, अपने पद-रज से, पवित्र करके धरसौना को चले । वहाँ से एक कच्ची सड़क पश्चिम को जाती है । दिनान्त समीप ही था; अतः आप के मन में वहीं कहीं ठहरने का विचार हो आया । बस, उसी कच्ची सड़क पर मुड गये । वह सड़क सिन्धोरा नामक प्रसिद्ध बाज़ार को जाती है । उसकेआसपास बहुतेरे ग्राम हैं । उनमें कितने ही गृहस्थ और वणिक एवं व्यपारी हैं। उन्हें तय करते हुए, सड़क के उत्तर कुछ दूर पर बसे हुए "पारापाटी" नामक ग्राम में उस रात को रम पड़े ।

उस ग्राम में कई घर क्षत्रियों के हैं । वे बड़े प्रतापी और ऐश्वर्य्यवान् हैं । श्रीयुत ठाकुर जगवन्दनसिंह आदिकों ने, स्वामीजी को अपने ग्राम में उपनीत देख, आपकी उचित अभ्यर्थना की और आग्रह पूर्वक अपने ही घर पर रात बिताने की प्रार्थना की । कोमल-हृदय सन्त-वर्य्य ने उनकी प्रेम-पूर्ण-परिचर्य्या अंगीकार की और रात वहीं टिक रहे । स्वामीजी की आत्म-कहानी और उत्तम-शिक्षा तथा सौम्य-मूर्ति देखकर सब लोग मनोमुग्ध हो गये । लोगों की इच्छा हुई, ये सदा हमारे ही घर रहते ! इस लिये, जब प्रातः काल स्वामीजी ने अन्यत्र जाने की बात कही, तो सब लोग विह्वल हो उठे, और अनुनय-विनय करने लगे—"स्वामी जी, हमें छोड़कर कहाँ जाइयेगा ? हम सब आप के दास हैं । अतएव सेवकों पर अनुग्रह कीजिये, और कहीं न जाकर, कुछ दिनों तक, यहीं ठहरिए ।"

स्वामीजी ने उन्हें बहुतेरा समझाया-बुझाया, पर वे थे अपने धुन के बड़े पक्के । बराबर आग्रह करते ही गये । अन्ततः जब स्वामीजी समझ गये कि ये बड़े अनुरक्त हैं और जल्दी न मानेंगें, तो वहीं ठहर गये । उन लोगों ने आपकी सब प्रकार से सेवा की । फलतः स्वामीजी भी उनपर बहुत ही प्रसन्न हुये । पर स्वामी जी बीच-बीच में अन्यत्र-गमन की बातें कहा करते थे । यद्यपि इससे वे और भी सतर्क होते जाते थे, पर आप कहने से बाज़ न आते । अब वे स्वामी जी पर कड़ी दृष्टि रखने लगे कि कभी ये अकेला पाकर चले न जाँय । प्रतिक्षण, सोते-जागते, चलते-फिरते, एक-न-एक मनुष्य आपके पीछे लगा रहता । स्वामीजी उन लोगों के स्नेह और भक्ति के जाल से ऐसे निबद्ध हो गये थे कि कुछ करते न बनता था ।

इस प्रकार सारा माघ और कई दिन फाल्गुन भी बीत गया, किन्तु स्वामीजी कहीं जा न सके। आपके मनमें कहीं जाने की चिन्ता अनुक्षण उठा करती थी । सदा यही सोचा कर थे कि कैसे यहाँ से पिण्ड छूटे । तब तक शिव-त्रयोदशी का दिन आ गया । उस दिन सब लोग व्रत थे । दिन भरके अन्न-जल बिना रहने से और रात्रि में अधिक देर तक जागरण करके कथा-वार्त्ता करते रहने से, सब लोग यकायक निद्रा-ग्रस्त हो गये । स्वामीजी जागते ही रह गये। अब उन्हें अपनी इच्छा पूर्ति का अच्छा अवसर हाथ लगा । बस, फिर क्या था, धीरे से उठ कर चलते बने। इस प्रकार जाकर पारापाटी से छुट्टी मिली ।

प्रातः काल उठ कर लोगों ने आश्रम सूना देखा । झट समझ गये कि हो-न-हो स्वामीजी कहीं चले गये। इधर-उधर देखने को लोग भेजे गये। पर अन्त में सबको, बिना स्वामी जी के ही, लौट आना पड़ा।

इस भाँति वहाँ से चल कर आप नित्य-प्रति एक ग्राम की यात्रा करते थे । जो ग्राम आगे आता वहीं ठहर जाते । वहाँ के लोगों से उचित सेवा-सत्कार पाकर, प्रातः काल दूसरे ग्राम को चल देते । इस प्रकार एक-एक ग्राम तय करते हुए, वहाँ के मनुष्यों को आनन्द देकर, २३ दिन में, "बरैछे" पहुँचे । वहाँ कई एक सच्चरित ब्राह्मणों का निवास मिला । वे विद्वान् थे । स्वामी जी भी तत्सम ही मिले । विद्वान् ही विद्वानों का मूल्य जानते हैं । विद्या-सम्बन्धी वार्त्ता चलने पर, स्वामी जी की अपूर्व योग्यता देख कर, वहाँ का पण्डित-समाज मुग्ध हो गया। लोगों ने स्वामीजी से ठहर कर कुछ शास्त्र-ज्ञान करा देने की विनीत प्रार्थना की । आपने भी उनकी सदभिलाषा देख कर उनकी बातें मान लीं । बरैछे में टिक कर, अपनी विद्या-बुद्धि और शिक्षा से सबको आनन्दित करने लगे ।

उस ग्राम के मान्य-गण्य पण्डितों ने आपसे शिक्षा-लाभ करना आरम्भ किया । पण्डित शीतल दानजी ने श्रीमद्भागवत पुराण पढ़ने की इच्छा प्रकट की । हमारे पूज्यपाद ऋषिने कहा—अच्छा, आओ, पढ़ो । परिश्रम और मनोवच-काय से पढ़ोगे तो अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लोगे । इस प्रकार भागवत जैसा कठिन महापुराण आपने उन्हें साङ्गोपाङ्ग पढ़ा दिया ।

वहाँ १०, १२ दिन रह कर "घुड़दौर" चले आये । उस ग्राम के रघु-वंशीय क्षत्रियों ने आप का बड़ा ही संमान किया, और बड़े आदर से टिकाया । श्रीमान् ठाकुर रघुनन्दनसिंहजी जैसे प्रतापी क्षत्रियों ने आपकी शिष्यता स्वीकार की । स्वामी जी की अत्यन्त सौम्यमूर्ति देखकर लोग बड़े प्रसन्न हुए । उन्हें तो जान पड़ा कि कोई देवता स्वर्ग छोड़ कर पृथ्वी पर उतर आया है । स्वामीजी थे भी ऐसे ही देवता-स्वरूप ।

ठाकुर रघुनन्दनसिंह जी जैसा पुण्यशील, भक्त और सच्चरित्र पुरुष हमारे देश में नहीं पैदा हुआ । वे स्वामीजी के गुणों पर बड़े मुग्ध थे । उनके शिष्यता स्वीकार करते ही आस-पास के गावों के लोग स्वामीजी के अनन्य भक्त हो गये । लोग नित्य स्वामीजी के दर्शनों को आते, और उनके उपदेशों से तृप्त होकर घर लौटते थे । स्वामीजी को श्रीमद्भागवत पढ़ने का बड़ा शौक था । उन्होंने बाल्मीकीय और अध्यात्म रामायण की कथा भी विधि-पूर्वक, लोगों को १४ महीनों में, घोड़दौर के तालाब पर सुनाई । डोभी परगने के लोग, धीरे-धीरे, स्वामी जी के शिष्य हो गये ।

ज्यों-ज्यों समय बीतने लगा, स्वामीजी का यश भी फैलता गया । हर एक बुड्ढा-बच्चा, स्त्री-पुरुष स्वामी के शिष्यों में सम्मिलित होने लगा । स्वामीजी न तो व्याख्यान देते थे, और न कोई विज्ञापन ही बाँटते थे । उन्हें शास्त्रार्थ करने, अथवा व्यर्थ वाद-विवाद करने का प्रपञ्च भी पसन्द न था । जो श्रद्धालु आ जाते, उन्हें अच्छी-अच्छी बातें सुनाते और अपना-अपना काम करने का उपदेश देते ।

यही उनका नित्य का काम था। बच्चे स्वामाजी को बहुत प्रिय थे। उन्हीं से वे खूब खुलकर, बिलकुल बच्चों की बोली में, बातें करते, उनके साथ हँसते, और उन्हें स्तोत्र याद करवाते थे। बच्चे अक्सर स्वामीजी से कुत्ता, बिल्ली, साँड़, शेर और हिरन की बोलियाँ बोलवाया करते थे। इन जानवरों की बोलियाँ स्वामीजी बोलते भी बड़े ठाट से थे। जिन लोगों ने स्वामी जी को शेर की तरह दहाड़ते देखा है, वे उन्हें जन्मान्तर में भी नहीं भूल सकते।

बड़े सवेरे उठ कर स्वामी जी स्नान करते और श्रीमद्भगवद्गीता का पाठ आरम्भ कर देते। सूर्य्योदय होते–होते सारे गाँव के लड़के नहा-धो, चन्दन-विभूति लगा, स्वामी जी के पास इकट्ठे हो जाते थे। इसके बाद स्वामीजी जिसकी 'भिक्षा' उस दिन स्वीकार करते, उसकी ओर से जलपान की सामग्री आ जाती थी। बच्चों के बड़े मजे रहते थे–खूब प्रसाद मिलता, और ऊपर से स्तोत्रों का पाठ और जानवरो की बोलियाँ अलग-सुनने को मिलती थीं। इस प्रकार, गाँव में हर एक के घर स्वामीजी की भिक्षा होती, ओर सारे गाँव में उत्सव मनाया जाता। जिन्हें कुछ पढ़ना-लिखना या पूछना होता, वे मध्याह्न ओर सायंकाल इकट्ठे होते थे। स्वामीजी के साथ कोई-न-कोई विद्यार्थी लगा ही रहता था।

कुछ महीने स्वामीजीने, इस प्रकार, घुड़दौर में बिताये। घुड़दौर के पास ही एक और गाँव है, जिससे स्वामीजी के जीवन का बहुत बड़ा और चिरस्थायी सम्बन्ध स्थापित हो गया है। इस लिए इस गाँव में स्वामीजी के निवास की कहानी, दूसरे खण्डमें, स्वतन्त्र रूपसे, लिखना अधिक उपयुक्त होगा।

तीसरा खण्ड।

पुराण-प्रसिद्ध आदि-गंगा गोमती नदी के दक्षिण तट पर, जौनपुर के जिले में, घौड़दौर के पास ही, रामगाँव नामक एक बड़ा ही सुहावना, छोटा-सा गाँव है। इस गाँव में, नदी के किनारे ही एक शिवालय भी है। इस शिवालय में स्वामी जी प्रायः नित्य जाया करते थे। गोमती में स्नान करके इसी मन्दिर में पूजा-पाठ किया करते थे। कुछ दिनों बाद, दो और सन्यासी काशी से आये और घोड़दौड़ के नामी रईस ठाकुर रघुनन्दनसिंह जी ने उन्हें इसी शिवालय में टिकाया। इन महात्माओं के साथ ही हमारे स्वामीजी का जी भी, इसी रम्य तपोभूमि में, रम गया, और वे भी यहीं रहने लग गये। सन्ध्या समय नित्य कथा-वार्ता होती, और आस-पास के लोग एकत्रित होने लगे। कुछ समय इन सन्तों के संग में यों ही बीत गया। इसी बीच में एक ऐसी विचित्र घटना हो गई कि जिसका उल्लेख विस्तार पूर्वक किये बिना नहीं रहा जा सकता। बात यों है कि इस घटना से

स्वामजी के जीवन में एक विचित्र परिवर्त्तन उपस्थित हो गया, और इस हेर-फेर का ऐसा सुन्दर परिणाम हुआ कि स्वामीजी का नाम तो अमर हो ही गया, हम भक्तों का वड़ा उपकार और भला हुआ। यदि यह दैवी घटना न घटी होती, तो न तो स्वामीजी का ध्यान कुछ लिखने की ओर ही जाता, और न हमें "श्रीमद्वराह–चरित्र" जैसा अनोखा काव्य-ग्रन्थ ही उपलब्ध होता। वस्तुतः हम इस घटना के, कई विचारों से, अत्यन्त आभरी हैं। हमारा निजी विचार तो यह है कि इसी घटना-विशेष ने स्वामी अचलानन्द गिरि को स्वामी अचलानन्द गिरि, और हम सहस्त्रों डोभी औैर कठेहर के निवासियों को उनका भक्त वनाया। महापुरुष तो अपने नश्वर शरीर के पतन के पश्चात् ही अमर होते हैं। स्वामी जी तो अपने जीवन-काल में ही मुक्त हो चुके थे,—मोह-माया से परे निष्कल व्रह्म में लीन थे, मरने के अनन्तर भी वे सदा के लिए जीवित हैं।

सम्वत् १९३३ विक्रमाव्द के वैशाख मास की वात है कि एक दिन, संन्ध्या समय, रामगढ़ के इसी शिवालय पर, स्वामीजी कोई पुराण पढ़कर लोगों को सुना रहे थे। लोग प्रायः वड़ी संख्या में इकट्ठे हुआ करते थे। इन्हीं लोगों में कुछ केवट और उनके वच्चे भी कथा सुनने आया करते थे। एक लड़का कथा सुनते-सुनते सो जाया करता था। कुछ दिन पहले स्वामीजीने एक दिन रात को स्वप्न देखा था कि वराह जी और हनूमानजी की दो वड़ी विशाल मूर्तियां गोमती के गर्भ में, वहुत काल से, जल-मग्न हैं। वे वाहर निकलना चाहती हैं। स्वामीजी ने लोगों से इस स्वप्न का जिक्र किया। लोगों ने कहा कि यदि ये मूर्तियां कह दें कि ये वाहर निकलना चाहती हैं, तो हम उनके निकालने का अवश्य प्रवन्ध करैं। स्वामीजी ने उनका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, और यों ही, हवा से, पूछा—"हनुमान् जी, क्या आप वाहर निकलना चाहते हैं?" बड़े आश्चर्य्य की वात है कि उस सोते हुए छोटे से केवट के वच्चे ने, अपनी घरेलू भाषा में, उत्तर दिया—"रोज-रोज का पूछैल्या? निकाल के पीपर के पेड़े तर खड़ी करवाय दिह्या; फिर शिवाला में रख दिह्या।" लोग मारे आश्चर्य्य के अवाक हो गए, और लगे स्वामी जी की प्रशंसा करने। सबको विश्वास हो गया कि जो स्वप्न स्वामी जी ने देखा है, वह अक्षरशः सत्य है।

दूसरे ही दिन सवेरे उस प्रतापी क्षत्रिय सरदार, ठाकुर रघुनन्दनसिंह जी, ने उन मूर्त्तियों के निकलवाने का सारा सामान इकट्ठा कर दिया। रामगढ़ का प्रसिद्ध केवट-मुखिया, रामदास, स्वामी जी का अनन्य भक्त था। इस केवट-सरदार ने इन मूर्त्तियों के निकलवाने में अपनी जान लड़ा दी। सच वात तो यह है कि विना रामदास के अदम्य उत्साह, अथक परिश्रम, और जी-तोड़ उद्योग के इन विशाल मूर्त्तियों का, गोमती के गम्भीर जल से, वाहर आना असम्भव था। रामदास वड़ा तैराक और जवरदस्त गोताखोर था। उसने, हजारों मनुष्यों की सहायता से, तैल-यन्त्र बनाकर, इन मूर्त्तियों को वाहर निकाला। स्वामी जी ने स्वयं वड़ा परिश्रम किया; परन्तु

स्वयं उन्होंने ही, वराह-चरित्र में, रामदास और ठाकुर रघुनन्द सिंह जी को, इन विशालकाय देवः प्रतिमावों के निस्सारण के लिये, सारा यश प्रदान किया है। ठाकुर रघुनन्दन सिंह जी ने सारा खर्च बरदाश्त किया, और जब तक ये मूर्त्तियाँ किनारे न आ गईं, तब तक अन्न-जल न ग्रहण किया। उनके उद्योग और परिश्रम की कथा स्वयं स्वामी जी के मुख से ही सुनने योग्य है। मैं इसका सविस्तर वर्णन अगले खण्ड में करूंगा।

मूर्त्तियों के गोमती-तट पर आते ही लोगों ने भारी हर्ष-नाद किया। घण्ट-घड़ियालों, शंख-ध्वनियों और जय-जयकारों से गगन-मण्डल काँप उठा, दिशाएँ गूँज गईं, और धरती हिलने लगी! इन देव-द्वय की विधिवत् पूजा की गई, और उस पीपल के वृक्ष के नीचे, जिसकी ओर उस दिन केवट के बच्चे ने सोते-सोते, आकाशवाणी करते समय, इशारा किया था, ये मूर्त्तियाँ, तब तक के लिए, स्थापित कर दी गईं। तदनन्तर ठाकुर रघुनन्दन सिंह के उद्योग और परिश्रम से यथा-पूर्व-निश्चित, एक मन्दिर बनवाया गया, और शास्त्रानुकूल श्रीमद्वराह और हनूमान् जी की मूर्त्तियाँ उसमें स्थापित कर दी गईं।

स्वामी जी के इच्छानुसार उस मन्दिर में एक संस्कृत पाठशाला भी खोली गई, जो बहुत दिनों तक आस-पास के ग़रीब ब्राह्मण-विद्यार्थियों को निश्शुल्क शिक्षा देती रही। बड़े खेद का विषय है कि यह पाठशाला अब टूट गई। डोभी और कठेहर ताल्लुक़ों के लिए यह बड़ी लज्जा की बात है कि उनके परम पूजनीय गुरु की स्थापित की हुई पाठशाला सौ-पचास वर्ष भी न चल सकी। हमारा उद्योग तो यह होना चाहिए था कि स्वामी जी का यह स्मारक (पाठशाला और मन्दिर), उन्हीं के यश की नाईं, अचल और सनातन बना रहता। क्या हम आशा करें कि डोभी और कठेहर वाले स्वामी जी के भक्त लोग अब भी अपना कर्त्तव्य समझेंगें, और इस टूटी हुई पाठशाला को फिर से जीवित करके यश के भागी होंगे?

चौथा खण्ड।

मूर्त्तियों के ठीक तरह से स्थापित होने और पाठशाला के चल निकलने से स्वामी जी को बड़ा सन्तोष हुआ। उन्होंने फिर वही अपना पुराना क्रम जारी कर दिया,—अर्थात् फिर उसी सन्यासि-कर्म में लिप्त हो गये जो उनका धर्म था। उपदेश देना, लोगों को अपना धर्म-पालन करने के लिए उत्तेजित करना, साफ़-सुथरा रहना, फ़िजूल खर्ची से बचना, विद्या पढ़ना और पढ़ाना, इत्यादि-इत्यादि, अच्छे-अच्छे काम करना लोगों को सिखाने लगे। कभी-कभी रात रहते ही उठ

कर पैदल काशी चले जाते, और गंगा-स्नान तथा विश्वनाथ के दर्शन करके फिर घोड़दौर लौट आते थे। स्वामीजी के शरीर में इतना बल और पौरुष था कि पचासों मील का चक्कर लगा डालने के बाद भी, चाँदनी रात में, घोड़दौर के जवान लड़कों के साथ घण्टों कवड्डी खेल सकते थे। दिन में कई सेर दूध पचा लेते, और दो-तीन जवानों की ख़ूराक को हज़म कर जाना तो उनके लिए साधारण सी बात थी। लगभग साढ़े छः फ़ीट ऊँचा, स्थूल, गेहूँ के रङ्ग का उनका बलवान् शरीर बड़ा ही भव्य, सुन्दर और सजीला जान पड़ता था। हमने तो उन्हें वृद्धावस्थामें, मृत्यु से कोई दस वर्ष पहले, देखा था; लेकिन जिन लोगों को स्वामी जी के साथ पचासों वर्ष रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, वे बतलाते हैं कि स्वामी जी जैसा गठीला, सबल और सच्चरित युवा संन्यासी, इस प्रान्त में, विरला ही देखने में आया होगा। उनकी आंखें इतनी साफ़, भावमय और तेजःपूर्ण थीं कि देखने वाला समझता था कि मानों स्वामी जी का आतंक, इन्हीं आँखों से होकर, उसकी अन्तरात्मा में प्रवेश कर रहा है। स्वभाव इतना सरल और कोमल था कि नाटक करने के लिए भी आपको क्रोध, कर्कशता और वाचालता का अभिनय करना कठिन हो जाता था। सदा हँसते रहते, और हास्य की धारा बहाया करते थे। बच्चों से ऐसे हिल-मिल जाते थे कि मानों ये बच्चे उन्हीं की ख़ास सन्तानें हों। दया का तो उनमें अटूट प्रवाह होता था। अपनी कोपीन और कमण्डलु तक ग़रीबों को दे डालते थे। पर आतंक का यह हाल था कि जिसने उन्हें पहले-पहल देखा, वह यही समझता था कि स्वामी जी कहीं के मठाधीश राजा हैं। काशी और प्रयाग राज के घाटिये और पण्डे तो, लाख समझाने पर भी, विश्वास नहीं करते थे कि आप निस्वार्थ, निर्मम सन्यासी मात्र हैं। झख मारकर स्वामी जी को अपने साथ वाले लोगों से इन पण्डों और घाटियों को कुछ-न-कुछ दिलाना पड़ता था। इतने वड़े क्रियावान और कर्मनिष्ट थे कि, सन्यासी होते हुए भी, एक दिन के लिए भूलकर भी, अपनी नित्य की कार्य्य-प्रणाली में अन्तर नहीं आने दिया। आमरण बराबर ४ बजे सवेरे उठ जाते, नित्यःकर्म से निवृत्त होकर स्नान करते, और फिर पाठ और जप में व्यस्त हो जाते थे। अपनी सारी ज़िन्दगी में उन्होंने नित्य उपकार किये, और कभी भी आलस्य को पास न फटकने दिया। जिस गांव में एक रात के लिये भी स्वामी जी ठहर जाते, वहां के लोगों में, घरके किसी सगे की नाईं, मोह पैदा होजाता था। यही कारण है कि "दण्डी-बाबा" का नाम हरेक छोटा—बड़ा, रईस और ग़रीब, डोभी और कठेहर में, जानता है।

नित्य की इन क्रियाओं के साथ ही साथ, स्वामी जी अपने पठन-पाठन का कार्य्य भी जारी रखते थे। इन युगल मूर्त्तियों के निकलने के बाद ही, स्वामी जी के मनमें यह जिज्ञासा प्रबल हो उठी कि आखिर ये अनोखी मूर्त्तियां गोमती में आई कहाँ से? हो-न-हो इनका आप-पास की भूमि और स्थान से कोइ सम्बन्ध है। इसी सिद्धान्त को सामने रखकर मूर्ति-सम्बन्धी इतिहास का

अन्वेषण करने लगे। आस-पास बसे लोगों से जब कुछ इतिवृत्त न ज्ञात हो सका, तो लगे पुरानी पोथियाँ उलटने और उन में इस मूर्ति-युग्म की तलाश करने। श्रीमद्भागवत्, महाभारत और रामायण छान डाली, और इस तत्त्व का पता लगाकर ही दम लिया कि ये अजीब प्रतिमायें कब, कैसे और किसके द्वारा स्थापित की गईं, और क्योंकर गोमती के गर्भ में पतित हुईं। स्वामी जी को महाभारत के वन-पर्व में जाकर "कोटि" तीर्थ का पता चला, और इन मूर्तियों के निर्मायक और संस्थापक महाराज प्रतर्दन के वंशज सर्वसे का नाम और इतिहास मिला। यह इतिहास अगले खण्ड में, सविस्तर, दिया जायगा। यहाँ इतना ही विचारणीय है कि स्वामी जी को ऐतिहासिक खोज से कितना जबरदस्त प्रेम था। जिन लोगों को यह विश्वास नहीं है कि पुराने ढंग के पढ़े हुए विद्वान् पण्डित भी इस गवेषणा से इतिहास-सम्बन्धी खोज कर सकते हैं, उन्हें यह देखकर अपना मत बदलना पड़ैगा कि स्वामीजी जैसा प्राचीन पद्धति का सन्यासी भी निहायत अप-टुडेट तरीक़े पर पुराने इतिहास का पता लगा सकता है। सच बात तो यह है कि स्वामीजी की अन्वेषण-प्रणाली देखकर यह नहीं प्रतीत होता कि वे निरे सन्यासी और 'दण्डी' थे,—वे तो इस खोज में कुछ ऐसे क़ामयाब हुए हैं कि उनकी इस सफलता पर बारम्बार आश्चर्य होता है। श्रीमद्वराह पुराण के काव्य-बन्ध, उसकी लेखन-शैली और कविता के सम्बन्ध में हम फिर लिखेंगे। इस खण्ड में तो हम केवल स्वामीजी की भौतिक लीलावों का ही वर्णन करना चाहते हैं।

खेद है कि हम स्वामीजी से यह न जान सके कि वराह-पुराण का श्रीगणेश किस तिथि को किया गया था। हाँ, पुस्तक के अन्त में स्वामीजी ने स्वयं लिखा है कि यह पुस्तक, धीरे-धीरे, कई वर्षों में लिखकर समाप्त की गई। समाप्त की तारीख़ स्पष्ट है—अर्थात् बुधवार, कुआर सुदी पंचमी सम्वत् १९६५ वि० को यह अनुपम ग्रन्थ समाप्त हुआ। इस प्रकार मूर्तियों के निकाली जाने की तारीख़, बैशाख सम्वत् १९३३ वि०, के कोई बत्तीस वर्ष पश्चात् यह पोथी अपनी वर्त्तमान दशा को प्राप्त हुई। सो स्वामी जी के काव्य-मय जीवन के लगभग बत्तीस वर्षों का सुन्दर इतिहास इस बराह-पुराण के पन्नों में अङ्कित है। इस प्रशस्त ३२ वर्षों में स्वामी जी ने क्या-क्या सोचा, क्या पढ़ा, और क्या लिखा—इन सभी प्रश्नों का उत्तर स्वरूप यह ग्रन्थ-रत्न है। स्वामीजी बस उसी एक ग्रन्थ से, क़ाव्य-जगत् में, अजरामर रहेंगे।

स्वामी जी के दैनिक कर्मों में प्रायः कोई विशेष अन्तर और परिवर्त्तन नहीं होने पाता था। करीब-करीब प्रत्येक दिन एक-साही बीतता था। हाँ, बुढ़ापे में, कुछ रोगों ने उनके शरीर को अपना घर बना लिया था। बात-रोग से वे प्रायः पीड़ित रहते थे। उनके भक्त-शिष्यों ने बहुतेरी दवायें कीं, और हरचन्द चाहा कि स्वामीजी इस भयानक रोग से मुक्त हो जाँय, पर इस मरदूद बात को भी स्वामीजी से बेहद उन्स पैदा हो गया था, और यह भी स्वामीजी के जीवन के साथ ही विदा

हुआ! इसके कारण वे पैदल चलने-फिरने में असमर्थ हो गये थे। अन्तिम दिनों में तो वे बिना पालकी-आदि सवारियों की सहायता से, एक गाँव से दूसरे गाँव में भी नहीं आ-जा सकते थे। जिस-किसी को स्वामी को अपने घर ले जाना स्वीकार होता, वह सवारी-कहार का प्रबन्ध करता था। लोग बहुधा स्वयं कहारों का काम करते थे। स्वामीजी को इस प्रकार लोगों के ले जाने में एक विचित्र प्रकार का आनन्द और उत्साह जान पड़ता था। जहाँ स्वामीजी की पालकी गाँव के समीप दिखाई पड़ी, कि सारी बस्ती में कोलाहल मच जाता था। बूढ़े-बच्चे, सभी उनके पुण्य दर्शनों को दौड़ पड़ते थे। चरणामृत ले-ले कर लोग कृतार्थ हो जाते थे। बच्चों के लिए तो स्वयं भगवान् उतर आते थे। प्रसादों, कहानियों, जानवरों की बोलियों और गप्प-शप्प का बाज़ार गरम हो उठता था, और हरेक बच्चा अपनी अच्छी करतूतों से "दण्डी बाबा" को प्रसन्न करने के लिए उत्सुक और अधीर दीख पड़ता था।

सम्वत् १९६२ में, स्वामी जी बड़े ज़ोरों से बीमार पड़े। यह बीमारी सम्वत् १९६५ तक बनी रही। स्वामी जी का जी इस बीमारी से इतना आजिज़ आ गया कि उन्होंने इस नश्वर शरीर को ही त्याग देने का विचार निश्चय कर लिया, और चाहा कि काशी जाकर समाधि ले लें। भक्तों की प्रार्थना और वैद्यों के ढाँढ़स बँधाने पर, कुछ दिन और देख लेना स्वीकार किया, और हम सभों के भाग्य से, सम्वत् १९६५ में, एक दम नीरोग हो गये। नीरोग तो क्या हुए, उस दुःख से बरी हो गये जिसे लोग, साधारण भाषा में, बीमारी कहते हैं। यों तो वे आमरण बात-रोग से अहर्निशि पीड़ित रहे।

सम्वत् १९६५ से १९७६ तक कोई ऐसी घटना उनके जीवन में नहीं घटी जिसका उल्लेख करना आवश्यक हो। अतएव उनके अन्तिम दिनों और महाप्रस्थान का दुःखद वृत्तान्त लिख कर ही इस खण्ड की समाप्ति करनी चाहिए।

ज्यों-ज्यों स्वामीजी का शरीर वृद्ध होता गया, त्यों-त्यों उनका यशः-काय धवल, नवल और तेजः-पूर्ण होने लगा। वृद्धावस्था, शरीर की स्थूलता, बात-रोग की अधिकता तथा मिथ्या यशोवृद्धि के डर से स्वामीजी प्रायः मौन और निश्चेष्ट से रहने लगे थे। परन्तु श्रद्धालु शिष्यों की संख्या कुछ ऐसी बेहिसाब बढ़ चली थी, कि वे हरेक नये गाँव को, जहाँ वे जाते थे, अपना नया राज्य-विस्तार बतला कर हँसते थे। आज़मगढ़ के प्रान्तर लौं उनके शिष्य छिटके हुए थे;—डोभी और कठेहर तो ख़ैर उनके राज्य के प्रधान तालुके थे ही! ऐसी अवस्था में, स्वामीजी के लिए, अपने शिष्यों के यहाँ, गाँव-गाँव दौरा करना असम्भव हो गया था। वे बहुतेरा चाहते थे कि काशी लौट जाँय और वहीं शान्ति-पूर्वक कुछ दिन और रह कर समाधि ले लें। किन्तु लोगों ने उनकी एक न सुनी, और किसी-न किसी श्रद्धालु ने, एक-न-एक बहाने, स्वामीजी को सम्वत् १९७६ वि० के श्रावण मास तक,

काशी के बाहर ही, अटका रक्खा। अन्त में, सम्वत् १९७६ वि० के श्रावण मास के कृष्ण पक्ष में, स्वामीजी की शारीरिक दशा बिगड़ चली, और उन्होंने अपने परम भक्त, धरसौना के प्रसिद्ध रईस, ठाकुर शिवमङ्गलसिंह साहेब के पास कहला भेजा कि मैं अब काशी में तुरन्त जाकर सदा के लिए मौन हो जाना चाहता हूँ। तुम जल्द डोली-कहारों का प्रबन्ध करके मेरे पास आवो।

कहना न होगा कि उन पुण्यशील, मनस्वी और गुरु--भक्त ठाकुर साहेब ने स्वामी जी की आज्ञा--पालन में एक क्षण का भी विलम्ब न किया, और तुरन्त पालकी कहार लेकर स्वामीजी की सेवा में उपस्थित हुए। साथ ही साथ उनकी दशा अच्छी न देख, बाहर ही बाहर उन्हें ले, काशी की ओर चल पड़े। काशी पहुँच तो गये, पर यह ध्यान में न आया कि रुग्ण स्वामी जी को कहाँ टिकावें। काशी के जगद्विख्यात् चौमुहानी मैदागिन पर पहुँच कर कहारों ने, दम मारने के लिए, स्वामी जी की पालकी, क्षण भर के लिए, उतार दी। ठाकुर शिव मङ्गल सिंह जी इसी चिन्ता में थे कि अब स्वामी जी के टिकाने का कहीं अवश्य प्रबन्ध करना चाहिए कि इतने में ३ सन्यासी काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा की ओर से वहाँ आन उपस्थित हुए। इन युवा सन्यासियों ने देखा कि किसी तेजस्वी, वयस्क और मूर्छित सन्यासी की पालकी सामने धरी हुई है। उन्होंने तुरन्त साथ के कहारों से पूछा कि इस पालकी में कौन पुरुष है? ठाकुर साहेब ने आगे बढ़कर उत्तर दिया कि महाराज, ये गुरु जी, परम सन्यासी और दिग्गज विद्वान् स्वामी अचलानन्द गिरिजी महाराज हैं। इनकी इच्छा के अनुसार हम इन्हें काशी में लेआये हैं, और चाहते हैं कि किसी अच्छे स्थान पर रखकर इनका इलाज करवावें। यद्यपि स्वामी जी को अब इस शरीर में रहना पसन्द भी नहीं है तथापि जब तक वे बीमार हैं, मैं जरूर उनके भौतिक शरीर की चिकित्सा करवाऊँगा।— इतना सुनना था कि उन सन्यासियों ने स्वामीजी के श्रद्धापूर्वक चरण छूये, प्रणाम किया, और कहा कि ए हमारे भी गुरु-वर्य्य हैं। हम उन्हें अपने मठ में, लक्ष्मी-कुण्ड, ले चलेंगे, और जब तक हमें सौभाग्य प्राप्त होगा, इनकी सब प्रकार सेवा करेंगे। ठाकुर साहब इस प्रस्ताव से सहमत हो गये, और स्वामी जी की पालकी लक्ष्मी-कुण्ड के सन्यासी मठ में पहुँचा दी गई। वहाँ के सन्यासियों ने स्वामीजी का स्वरूप पहचान कर अपने भाग्य को बहुतेरा सराहा कि ये उन्हें आख़िरी वक्त में, सेवा के लिए, मिल तो गये। बड़ी श्रद्धा और भक्ति से सेवा-सुश्रुषा प्रारम्भ की गई, और अन्त तक जारी रही।

स्वामीजी की बीमारी का हाल और उनके काशी पहुँच जाने का समाचार चारों ओर फैल गया, और उनके सहस्रों शिष्य नित्य, देहातों से उनके अन्तिम दर्शनों के लिए, आने लगे। पर जहाँ स्वामीजी के लाखों भक्त एक-से-एक अधिक श्रद्धालु, भक्ति-सम्पन्न, विद्वान् और लक्ष्मीवान् थे, वहीं ठाकुर सुग्रीवसिंह साहेब, धरसौना, जैसे सच्चे और अनन्य सेवक भी उनके कई थे, जिनकी याद

स्वामीजी को अन्तकाल तक बनी रही । दुर्भाग्यवश ठाकुर सुग्रीव सिंह साहेब उन्हीं दिनों विन्ध्याचल गये हुए थे । जब-जब स्वामीजी को होश आता, तब-तब बराबर अपनी परिचर्य्या में रहने वालों से पूछते कि "क्या सुग्रीव आ गया ?" और निषेधात्मक उत्तर पाकर, आँखें मीचते हुए, कहते कि "संयोग नहीं था कि भेंट होती !" घोड़दौर के रईस ठाकुर रघुनन्दन सिंह साहेब के योग्य वंशधर, ठाकुर वासुदेव सिंह, तथा वेहड़ा के मशहूर पण्डित विन्ध्येश्वरी शुक्ल इत्यादि भक्तों ने स्वामीजी की सेवा में बड़ी तत्परता दिखलाई, और उनके आशीर्वाद से निस्सीम पुरायार्जन किया । परन्तु काशी ले जाकर, अन्तिम श्वास तक, अविचलित भाव से, स्वामी जी की सेवा का अमोघ यश तो केवल ठाकुर शिवमंगल सिंह साहेब (धरसौना) को प्राप्त है, जिनकी श्रद्धा और भक्ति पर स्वामी जी की इतनी आस्था थी कि अपने लाखों शिष्यों में से उन्होंने अन्तिम सेवा के लिए केवल उक्त ठाकुर साहेब को ही चुना ।

सम्वत् १९७६ की श्रावण शुक्ला तीज को स्वामी जी की शारीरिक दशा शोचनीय हो चली, और इस शरीर की जर्जरित गढ़ी में अपने शुद्ध-बुद्ध हंस को और अधिक देर तक बन्दी रखना व्यर्थ समझ, श्रीमदचलानन्द गिरि गोस्वामी ने, ८४ वर्ष की ऐहिक लीलाओं के अनन्तर, अनेकों श्रद्धालु शिष्यों के मोह-माया-मय सुख-दुःख पर मुस्कराते हुए, महाप्रस्थान किया, और उस अनन्त ब्रह्म में लीन हो गये, जहाँ से उनकी आत्मा वर्षों पहले धराधाम में अवतीर्ण हुई थी ।

पाँचवाँ खण्ड

उसी दिन स्वामीजी के मृतक शरीर को यथा-विधि, यथाशास्त्र, मंजूषा बनाकर, बड़े धूम-धाम से, पतित पावनी गंगा में जल-समाधि दी गई । भक्तों ने निश्चय किया कि स्वामीजी का श्राद्ध-कर्म भी उनके यश और कीर्त्ति के अनुकूल ही होना चाहिए । यद्यपि स्वामीजी एक तो परमहंस सन्यासी, दूसरे मुक्त योगी थे, तथापि अपनी चित्त-शुद्धि के निमित्त उनके शिष्यों का यथा रीति प्रेत-कर्म करने का प्रस्ताव सर्वथा उचित और श्लाघ्य था । जिन-जिन तिथियों को प्रेत-कर्म के लिए जो-जो विधान शास्त्रों में आदिष्ट हैं, उनके अनेकों शिष्यों ने उन्हें बड़ी श्रद्धा और विश्वास से सभी किये । स्वर्गारोहण के तेरहवें दिन, एक बृहत् यज्ञ किया गया, और ब्राह्मण, सन्यासी तथा दरिद्र-कङ्गालों के भोजन का भी बड़ा भारी आयोजन हुआ । टिकरा आदि के मठाधीश भी इस यज्ञ और भोज में सम्मिलित हुए थे । यद्यपि इस महायज्ञ और स्वामी जी के भौतिक शरीरसम्बन्धी क्रियायों की पूर्ण-

हुति में, स्वामी जी के सभी छोटे-बड़े, ग़रीब-अमीर शिष्यों ने, अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार, हाथ बटाये, तथापि नीचे लिखे सज्जनों के नाम विशेष रूप से उल्लेख-योग्य हैं। इन उदार महाशयों ने अपनी श्रद्धा का अच्छा प्रमाण उपस्थित किया, और यह सिद्ध कर दिया कि स्वामी जी के स्वर्ग-वास के अनन्तर भी ये उनकी शिक्षावों पर चलेंगे, तथा स्वामीजी की लगाई हुई इस धर्म-वल्ली को बराबर सीचते रहेंगे।

१—ठाकुर वासुदेव सिंह साहेब, घोड़दौर।

२—ठाकुर रामबदन सिंह साहेब, पारापाटी।

३—स्वर्गीय ठाकुर शिवमंगल सिंह साहेब, धरसौना।

४—ठाकुर शम्भुनरायण सिंह साहेब, धरसौना।

५—पण्डित विन्ध्येश्वरी शुक्ल, बेहड़ा।

६—पण्डित रघुनाथ पाण्डेय, बरैछे।

७—मुंशी केदारनाथ लाल, घोड़दौर।

८—पण्डित राजनारायण चौबे, हरिहरपुर।

९—ठाकुर रामनिरञ्जन सिंह, देवराई।

१०—पण्डित विक्रमा शुक्ल, बेहड़ा।

११—ठाकुर अमलदार सिंह, पारापाटी।

१२—ठाकुर मरजाद सिंह, देवराई।

१३—पण्डित बेचन मिश्र, कोप।

इन सज्जनों के नाम इस लिए विशेष रूप से उल्लेख किये गये कि इन्होंने स्वामी जी के श्राध-कर्म की अन्तिम तिथि के लिए बड़ा उद्योग किया, और बड़े परिश्रम तथा तत्परता से काम लिया। यों तो स्वामी जी के सभी शिष्य अपनी श्रद्धा तथा भक्ति में एक दूसरे से बढ़कर हैं।

स्वामी जी के स्वर्ग-वास पर किसी को दुःखी नहीं होना चाहिए। यही शिक्षा भी स्वामी जी की थी। वे वस्तुतः निर्मम, निरीह और सच्चे सन्यासी थे। ऐसे जीवन-मुक्त योगियों का कैसा जीना, और कैसा मरना ? वे तो आत्मस्वरूप, आकाशवत् स्वच्छ और निर्लेप हैं। उनके फिर मरने-जीने का प्रश्न ही क्या ? लेकिन तौ भी मानव-हृदय में वेदना का होना अत्यन्त स्वाभाविक क्रिया है, और यह वेदना तो उस हालत में और भी उग्र हो जाती है, जब स्वामी जी जैसा पथ-प्रदर्शक, गुरु, सखा और सच्चा हित-चिन्तक आँखों से, सदा के लिए, ओझल हो जाय। उन श्रद्धालु शिष्यों के दुःख की तो कहानी ही जुदा रही जिनको स्वामी जी के साथ बीसियों, चालीसों और पचासों वर्ष रहने का फ़ख़्र हासिल था; स्वामी जी के वियोग का दुःख तो उन मनस्वी सन्यासियों से भी न सहा

गया जिन्हों ने स्वामी जी को मृत्यु से एक ही सप्ताह पहले देखा था। लक्ष्मी-कुण्ड के सभी सन्यासियों ने स्वामी जी के स्वर्ग-वास पर दुःख प्रकट किया, रोए, और खिन्न हुए; परन्तु उन सब में से उस युवा और आशु-कवि, विद्वान सन्यासी स्वामी सत्यानन्द का विषाद तो काव्य-रूप में होकर बह चला, और आज तक हमें स्वामी जी के जीवन के उस अन्तिम दृश्य की याद दिलाता है। स्वामी सत्यानन्द जी ने "शोकोद्गार" में, स्वामी जी की मृत्यु पर, गरम-गरम और मर्म-स्पर्शी आँसू बहाए हैं। हम सत्यानन्द जी महाराज के उन चोखे, सच्चे, खरे और भावमय संस्कृत और हिन्दी पद्यों को, इस पुस्तक के अन्त में, परिशिष्ट रूप से, प्रकाशित कर रहे हैं। परन्तु इस स्थान पर उन अत्यन्त स्वाभाविक भावों से पूर्ण छन्दों में से विना एक-दो को उद्धृत किए आगे बढ़ना कठिन जान पड़ता है। सत्यानन्द जी ने, स्वामी जी की अभूत-पूर्व दया की याद दिलाते हुए, लिखा है—

तातस्त्वमेव किल संकलयन्स्त्वकर्म, भ्रातस्त्वमेव भवकष्टनिवारणेन।
मित्रं त्वमेव हित-वृत्तिकरं सदा न, आसीत्समस्तमुदय ! योगिवर्य्य !

इस में तिल भर भी असत्य नहीं कि स्वामी जी जैसा पिता, भाई और मित्र हम सभों का संसार में न मिलेगा। सत्यानन्द जी ने बहुत ही सच कहा है कि—

पीयूषवर्षिभिरघं भवभोगजातं, घर्षद्भिरत्रवचनैर्विमलैः श्रुतानाम्।
तापं विहृत्य सहजं दयमानचेताः, सत्यस्वधर्मपथि नो गमयाम्बभूव ॥

स्वामी जी ने हमें जिस मार्ग पर चलने का उपदेश किया था, वह पथ इतना सच्चा, पवित्र और शुद्ध है कि उसका अवलम्बन करने से मनुष्य को पाप और दुःख का ताप रही नहीं जाता। परन्तु दैव की कुछ ऐसी विचित्र सृष्टि है कि वह स्वामी जी जैसे उपदेशकों को सदा के लिए हमारे पास स्थायी नहीं रहने देती।

स्वामी जी के विचार सदा उत्तम और प्राञ्जल होते थे। वे स्वभाव के मधुर और हँस मुख थे। बच्चों की संगति से अत्यधिक प्रसन्न होते थे। सदाचार की बातें उन्हें बहुत सुहाती थीं, और बदतहज़ीबी से वे घबराते थे। बाक़ायदे बैठना, अदब से बोलना, साफ़ रहना और अपने कुल की मर्य्यादा को स्थिर रखना वे हरेक बच्चे-बुड्ढे को सिखाया करते थे। उनकी समझ में संसार उसीके लिए सुखकर हो सकता था जो अपने पूर्वगत बड़ों के बताये हुए नियमों पर चलै। हमारी अविद्या और सुस्ती पर उन्हें दया आती थी। कई बार उन्हों ने इन पंक्तियों के लेखक से पूछा कि इस प्रान्त के लोग इतने दुःखी क्यों हैं ? हठ-पक्षपात की बातें सुनकर वे खिन्न हो जाते थे, और कहा करते थे कि मनुष्य अगर अपनो बनने की आदत छोड़ दे, और सच्चे हृदय से किसी भी अच्छे नियम का

पालन करैं, तो उसे दुःख की शिकायत न रह जाय। हमने स्वामी जी से पूछा कि यहाँ के लोग दिखाव ज्यादा और सच्चाई कम रखते हैं, इसके क्या कारण हैं? स्वामी जी ने कहा कि यहाँ वाले लकीर के फ़कीर हैं। बाप-दादाओं ने जो काम कभी अपनी हैसियत के मुताबिक़ किये थे, आज भी लोग उन्हें ही उसी रूप और उसी पैमाने पर करना अपना धर्म और शान समझते हैं। घर में तो खाने के भी लाले पड़ रहे हैं, बच्चों की देख-रेख और शिक्षा-दीक्षा का भी कोई प्रबन्ध नहीं, पर ब्याह-शादियों में हज़ारों रूपये क़र्ज़ लेकर व्यर्थ उड़ा देते हैं। हाथी-घोड़ों के जमघट की बारातों में क्या आवश्यकता है? आतिश-बाज़ियों में सैकड़ों रूपयें क्यों धुआँ कर दिये जाँय? नाच और तमाशों में लोगों के इतने रुपये बर्बाद हो जाते हैं, पर लोग इसकी खबर नहीं रखते कि घर वाले रोटी भी दोनों सन्ध्या पाते हैं या नहीं! अपनी लड़कियों तक को लोग बेच डालते हैं!! लड़कों का मोल-चाल करना तो खैर साधारण-सी बात है! अब अगर वे दुःखी न हों तो और क्या हों? अदालतों में सरासर झूंठ बोलते हैं, भाई भाई का गला काटता है, खड़ी खेती में आग लगा देते हैं, बहू-बेटियों की इज्ज़त का ख्याल नहीं रखते, डाका डालते हैं;—ऐसे पापियों को तो स्वभाव ही से दुःखी, निकृष्ट और मलिन होना चाहिए। नशा में ही ए क्या कम खर्च कर देते हैं? तम्बाकू से लेकर शराब तक तो इनके गले के हार हो रहें हैं। फिर ये सुखी क्यों कर हों? तुमने देखा होगा, इस प्रान्त में सूद का बाज़ार कितना गरम है। जिस अभागे ने एक बार भी दस रुपये, भूल से, किसी महाजन-नाम-धारी क़साई से लिए कि वह तबाह हुआ। किसी पर किसी का विश्वास है ही नहीं। और, जहाँ विश्वास नहीं, दया नहीं, समवेदना नहीं,—वह समाज तो उच्छृङ्खल, मन-माना और दुःखी होगा ही।

स्वामी जी के समाज-सुधार-सम्बन्धी ये ही विचार थे; और वे इन्हीं पापों और समाज के दुष्कर्मों के विरुद्ध अपनी वाणी का प्रयोग करते थे। बच्चों के अल्पावस्था में ही ब्याह-देने के वे बिलकुल विरुद्ध थे। जब तक बच्चों में इतना ज्ञान नहीं पैदा हो जाता कि वे विवाह-सम्बन्ध का सच्चा अर्थ समझ सकें, विवाह-सम्बन्धी उत्तर दायित्व अपने सिर पर ले सकें, तब तक उनका ब्याह, गुड़ियों के खेल की नाईं, कर देना महापाप और अन्याय है। माँ-बाप का धर्म बच्चों के ब्याह तक ही नहीं समाप्त हो जाता। धर्म तो यह है कि बच्चे को इस योग्य बना दिया जाय कि वह अपनी जिन्दगी का भार स्वयं अपने ऊपर ले सकै। बचपन में ब्याह करके तो लोग बच्चे को और भी व्यर्थ के बोझों से दबा देते हैं। पढ़ना-लिखना और काम-काज का बनाना तो दूर रहा, बच्चे को बच्चा पैदा करने की मशीन बना देते हैं। स्वामी जी कहा करते थे कि इस प्रथा को रोक देने से बहु-विवाह और विधवा-विवाह की नौबत ही न आयेगी। यदि लोग अपनी आर्थिक और सामाजिक दशा का ध्यान रख कर काम करैं, तो ये बे-जोड़ विवाह और ऋण का भूत इन्हें इतना

तंग न करै । ६० वर्ष के बुड्ढ़ों तक को व्याह करने का शौक़ लगा रहता है ! इस देश में लड़कियों का तो कोई मूल्य ही नहीं समझा जाता । कहीं-कहीं तो उन्हें खाने के लिए रोटियों और तन-ढकने के लिए कपड़ों का भी लोग अभाव ही रखते हैं । यह बुरी बात है । जैसे लड़के ईश्वर की देन हैं, वैसे ही लड़कियाँ भी उसकी कृपा के फल हैं । फिर लड़कों और लड़कियों में यह भेद-भाव कैसा ?

स्वामी जो कोई व्याख्याता नहीं थे, और न उन्हें नाटक के पात्रों की नाईं व्यर्थ का अभिनय करना ही पसन्द था । किन्तु उनकी भाषा में एक अजीव तरह का मिठास और सरसता थी । हमारे यहाँ की बोली भी वे बड़े ठाट के साथ बोलते थे । बच्चों के साथ तो उनकी ख़ूब घुटती थी । पुराने कवियों के पद्यों को स्वामी जी कुछ ऐसा बनारसी जामा पहना देते थे कि बच्चों की अन्तरात्मा खिल उठती थी ।

"यही पाप से भइलीं कुकुरिया—घर-घर लव्दा खालीं—"

उनके मुंह से बड़ा ही सुन्दर जँचता था । इसी प्रकार,

"साईं का घर दूर है, जैसे लम्बी खजूर ।
चाखन चाहै प्रेम-रस, गिरै तो चखना चूर ॥"

में अन्तिम शब्द को इतना गोल, लम्बा और देर तक उच्चारण करते थे कि सारी बालमंडली उसमें, अपने नाना प्रकार के कण्ठों समेत, समा जाती थी !

"भये प्रगट कृपाला, दीनदयाला, कौसिल्या-हितकारी" का भैरव-रव तो स्वामीजी के पलंग के चारों ओर प्रतिक्षण गूंजा ही करता था । आगे-आगे आप कहते थे, और पीछे-पीछे बच्चे चिल्लाते थे ! बड़ा मज़ा तो तब आता था, जब कोई नाबक़ार बच्चा गाना छोड़कर, बीच में ही, अपनी मां की याद में, रो उठता था ! शंकराचार्य्य की षट्पदी, शिव-स्तोत्र, और महिम्न के पाठ नित्य हुआ करते थे, और कई सयाने लड़कों का, स्वर मिलाकर,

"शिव हरे ! विजयं कुरु में वरम्"

पढ़ना स्वामी जी की आत्मा को बड़ा सुख देता था । लड़कियों को स्वामी जी विशेष रूप से शिक्षिता और आदर्श गृहिणियां बनाना चाहते थे । हरेक लड़की को सिखाते थे कि आपस में मीठा बोलो, झगड़ा न करो, और कुछ पढ़ो-लिखो अथवा घरका कोई उपयोगी काम करो । एक-दूसरे को "सखी" कहकर पुकारो, गाली न बको । स्वामी जी की राय में, अगर लड़कियों को बहुत न पढ़ाया जाय, तो कोई हानि नहीं, बशर्ते कि वे गृह-कार्य में कुशल हों ।

साधरणतया स्वामी जी चाहते थे कि लड़कों को काम-काज भर की हिन्दी, हिसाब और इतिहास की शिक्षा देनी बहुत है । हाँ, हिन्दी के साथ यदि थोड़ी सी संस्कृत भी पढ़ा दी जाय, तो सब से अच्छा । संस्कृत में बहुत नहीं, हितोपदेश, रामायण, अमरकोश और महाभारत पढ़ लेना

बहुत है। जैसे संस्कृत में पुलिङ्ग, स्त्री लिङ्ग और नपुंसक-तीन लिंग हैं, वैसे ही हिन्दी में भी तीन ही लिङ्ग होने चाहिएँ। क्योंकि हिन्दी भी तो आखिर संस्कृत ही की कन्या है। विशेष विद्वता के लिए, संस्कृत, अंगरेजी या फ़ारसी पढ़ना बहुत ठीक है। स्वामी जी उदार-चेता और प्रशत-हृदय के पुरुष थे। उन्हें किसी से द्वेष और वैर नहीं था।

स्वामी जी धर्म में किस मत को मानते थे, यह कहना कठिन और सहज दोनों हैं। कठिन तो यों है कि किसी भी सच्चे धर्म के सिद्धान्त से उनका विरोध न था। धर्म तो बड़ा व्यापक और पवित्र तत्त्व है। धर्म की व्याख्या करना ही, स्वामी जी के मत से, व्यर्थ और प्रपंचात्मक है। जिस धर्म में मनुष्य पैदा हुआ हो, जो उसके बाप-दादावों का परम्परागत धर्म हो, वही उस मनुष्य के लिये उत्तम और श्रेयस्कर धर्म है।

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"—इत्यादि गीता के सिद्धान्तों का स्वामी जी समादर करते थे।—सहज यों है कि वे आश्रम-धर्म को मानते और उसी का प्रचार करते थे। गोसाईं तुलसीदास की भाँति, उन्हें भी वेद-शास्त्रों के सिद्धान्तों का अपमान सह्य न था। विद्वान् ब्राह्मणों का अवश्य सत्कार होना चाहिए, यह स्वामीजी का आदेश था। पर महज़ ब्राह्मण-नामधारी पापी की पूजा हो, यह उनके मत के विरुद्ध है। धर्म में भी सुधार की गुंजायश है, यह स्वामी जी स्वीकार करते थे। परन्तु आर्य्य-समाजियों की उदारता उन्हें नापसन्द थी। श्राध और मूर्ति-पूजा-सम्बन्धी प्रश्नों में स्वामी जी और आर्य-समाजियों में वैसा ही मत-भेद था जैसा महामहोपाध्याय पण्डित शिव कुमार शास्त्री और पं० अखिलानन्द जी का है। स्वामी जी शंकराचार्य्य के अद्वैत वेदान्त के मानने वाले, और

"सत्यपि भेदापगमे नाथ! तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रोहि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः॥"

के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे। वर्णाश्रम धर्म से मुँह मोड़ कर जंगलों में मुक्ति की खोज करने असमय चला जाना—स्वामी जी को अच्छा नहीं जान पड़ता था।

"चौथेपन नृप कानन जाहीं"—

वाला मसला वे बहुत पसन्द करते थे। ब्राह्मण को विद्वान्, क्षत्रिय को सूर,, वैश्य को व्यपारी और शूद्र को सेवक होना चाहिए।

धर्म का सब से बड़ा तत्त्व स्वामी जी 'दया' और 'परोपकार' बतलाया करते थे। अपने क्षणिक सुख के लिए किसी की हिंसा करनी, किसीको शरीरिक अथवा मानसिक दुःख देना—स्वामी जी बे हद बुरा मानते थे। मांसाहारियों को समझाने और फुसलाने में अक्सर उनका बहुत-सा समय व्यतीत होता था। जिन-जिन गाँवों में स्वामी जी के चरण गये, प्रायः ७५ प्रति शतक लोगों ने मांस

खाना छोड़ दिया। स्वामी जी ने अपना नियम बना रखा था कि जिनके घर मांस पकता हो, उनके घर 'भिक्षा' नहीं करते थे। मांस से दूध-घी कहीं अच्छा, शक्ति-शाली और पवित्र भोजन है। दया का यह हाल था कि बेचारे, निरीह बकरे का वह कातर, दर्द-खेज़ चित्र खींचते थे कि क़साई का दिल भी पिघल जाता था! भय भी इन मांसाहारियों को वे कम नहीं दिखलाते थे!—

"बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं, उनको कौन हवाल!!"

लोग प्रायः स्वामीजी से प्रश्न किया करते थे कि स्वर्ग-नर्क का पचड़ा क्यों माना जाय? जो-कुछ संसार में हो रहा है, उसी से सन्तोष क्यों न कर लें? स्वामीजी ये प्रश्न सुनकर हँस दिया करते थे। कभी-कभी, जब मिज़ाज में ज्यादा चुलबुलाहट होती थी, तो इतना और उस हँसी में मिला देते थे कि भाई, अगर संसार का वास्तविक तथ्य ही जाना जा सकता, तो स्वर्ग-नर्क के पचड़े ही को क्यों, हम तो सारी ज़िन्दगी की कहानी को हवा में उड़ा देते!—कुछ देर चुप रह कर फिर कहते—उपकार बड़ी चीज़ है। उपकार से देवता भी वश में आ जाते हैं। दया और उपकार के नाते ही इन निरीह जन्तुवों के हाल पर मिहरबानी करो। इनसे दूध-घी, दही-मट्ठा क्यों नहीं लेते? जीते-जी खाद भी इनसे मिल सकती है, और मरने पर खाल, भेंड़ियों से बाल, दूध और खाद मिलना कम नहीं है।

स्वामीजी को मिथ्याडम्बर से इतनी अधिक घृणा थी कि वे अक्सर इन साधु-नामधारी पाखण्डियों के विरुद्ध फूट पड़ते थे। मठ अथवा कुटी बनाकर पुजाने वाले गृहस्थ-वैरागी और सन्यासियों से वे बहुत चिढ़ते थे। मठाधीश और महन्थ होना तो उन्हें हर हालत में नापसन्द था। अपने गुरुजी के देहान्त के पश्चात् जब उस मण्डली के लोगों ने स्वामीजी को अपना महन्थ बनाना चाहा, स्वामीजी ने साफ़ इन्कार कर दिया। जटा-जूट रखकर, शरीर पर खाक मलना, दर-दर भीख-मांगते फिरना—स्वामीजी अविद्या और अभाग्य का कारण बताते थे। नटों की बन्दरियों के खेल की नाईं कुछ साधकों का योग की विभूतियों का प्रदर्शन करना वे नितान्त अयोग्य, बेकार और भ्रममूलक मानते थे। बैठे-बैठे बढ़ी हुई नदी पार कर जाना, झोली में से विष निकाल कर खा जाना, वर्षों गुफ़ावों में बैठ कर निरशन बिता देना, इत्यादि, स्वामीजी के नज़दीक़ कोई ऐसी क्रियायें नहीं थी जिनका कोई ढिंढोरा पीटता फिरै! ऐसे लोगों की मुक्ति नहीं होती। जिसने परिश्रम करके कुछ योग की क्रियायें सिद्ध की हैं, उसे चाहिए कि वह उनका सदुपयोग करै, और उन्हें परब्रह्म की तलाश में लगावै। लोक में उनकी नुमायश करने से कोई लाभ नहीं। स्वामी जी स्वयं योगी थे, पर उन्होंने कभी भी कोई "करामात" नहीं दिखलाई! वे इस "करामात"-प्रदर्शन को घृणित और धोखाबाज़ी समझते थे। इन पंक्तियों के लेखक ने कई बार स्वामीजी से

पूछा कि जो दो-तीन स्वामी जी की "करामात"—सम्बन्धी कहानियां प्रसिद्ध हैं, वे कहां तक सच हैं। स्वामी जी ने हर बार यही कहा—"सब गप्पें हैं।" किसी सद्वस्तु को भ्रष्ट करके, उसे अपनी जीविका का साधना क़रार देने के स्वामीजी हमेशा ख़िलाफ़ थे। योग की सिद्धियां पैसा-पैदा करने की मशीनें नहीं हैं। और, न जटा, छाप, माला और तिलक से कोई स्वर्ग जाता है। हाँ, यदि ये उपकरण सच्चे हृदय से यह समझ कर इकट्ठे किये गये हैं कि इनसे मनःशुद्धि तथा भक्ति-भाव और पूजा-पाठ में सहायता मिलैगी, तब तो और बात है।

पर साथ-ही-साथ स्वामी जी मूर्ति-पूजा का साधारण जनता के लिये उपदेश देते थे। वे ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञानार्जन में इन मूर्त्तियों को पहली सीढ़ी मानते थे। निराकार ईश्वर की पूजा तो खैर वे उत्तम मानते ही थे, मूर्ति-पूजा का भी वे वही फल बतलाते थे जो ध्यानस्थ ब्रह्मोपसना का। वे भगवान् कृष्ण की इस बात के सच्चे उपासक थे कि भगवान् की पूजा जो जिस भाव से करता है, वह उसे उसी भाव से प्राप्त करता है;—क्योंकि संपूर्ण चराचर ईश्वर ही की रचना है, और उसी के बतलाये हुए मार्ग पर चल रहा है।—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥"

(गीता—४,१२)

दूसरे, जब ईश्वर सर्व-व्यापक है, तो उसकी कल्पना मूर्ति में कर लेना कोई दोष नहीं हुआ। हाँ, जिनका काम बिना मूर्त्ति के ही चल जाता हो, वे खुशी से निराकार ब्रह्म की उपासना करैं।

जब मूर्ति-पूजा को स्वीकार करते हैं, तो फिर उसके साधनों और उपसाधनों का स्वीकार करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य्य हो जाता है। स्वामी जी मन्दिर, होम, जप, पूजा,—सभी यथाकाल, यथा-रीति और यथामर्याद मानते थे, और लोगों को करने का उपदेश देते थे। परन्तु ध्यान रहे कि वे सभी कामों में श्रद्धा और विश्वास की प्रचुरता का विचार रख कर काम करने का आदेश करते थे। यदि आपका ध्यान अपने खेतों में उगे हुए गन्नों की बाढ़ पर मण्डला रहा है, और आप शिवालय के चबूतरे पर बैठे, सन्ध्या समय, आँखें मीचकर अपनी नाक के नथने बन्द करके ईश्वराराधना का ढोंग रच रहे हैं, तो अच्छा था कि खुल्लम् खुल्ला अपने गन्नों की चिन्ता करते, और शाम का ऐसा अच्छा वक्त फ़िज़ूल न खोते! यही स्वामी जी के उपदेश का सारांश था। श्राद्ध-कर्म, चाहे वे शास्त्रों में विहित हों, चाहे निषिद्ध, लोक में प्रचलित होने के कारण स्वामी जी को मान्य थे। वे कहा करते थे कि बुरा या भला, जैसा भी रवाज हो, उसके विरुद्ध कार्य्यारम्भ करने के पहले खूब सोच-विचार लेना चाहिए। आरम्भ-शूर होने से अच्छा है कि काम शुरुअ

ही न किया जाय । और अगर एक बार आरम्भ कर दिया, तो फिर विना पूरा किये पीछे हटना कायरता और नामर्दी है । लोक-मतमें बड़ा बल है । उसका सहज में तिरस्कार नहीं किया जा सकता । स्वामीजी तो यहाँ तक कह डालते थे कि—

यद्यपि शुद्धं लोक-विरुद्धम्

न करणीयं, न करणीयं, न करणीयम् !!

कभी-कभी तो लोक-मत के सम्मान पर अच्छा, खासा व्याख्यान दे डालते थे, और प्रायः, अन्त में, उस प्रसिद्ध दोहे का यह अर्द्धांश गाने लग जाते थे,—

रघुपति सीत परिहरी, सुनत रजक के बैन !

ऐसे अवसरों पर उनकी आँखें अपनी अन्तरात्मा से बातें करती हुई नज़र आती थीं, और उनकी वाणी में वह कोमलता, विश्वास और ताल-लय भर जाता था कि सुनने वाला, विवश होकर, उनका कहना सहज ही मान लेता था ।

स्वामीजी ने पढ़ना-लिखना बड़ी अवस्था में सीखा था । इसलिए उन्होंने जो कुछ पड़ा था, उसका मनन खूब किया था । वे लोगों को सिखाते थे—

पढ़ना कम, गुनना ढेर !

यह उनका एक ऐसा सूत्र था, जिसमें उनकी शिक्षा-सम्बन्धी सारी व्यवस्था समाई बैठी थी । इसी सूत्र से वे अपना शिक्षा-सम्बन्धी वक्तव्य प्रारम्भ करते थे, और अक्सर यही सूत्र दोहरा कर समाप्त भी करते थे । और वस्तुतः यह सूत्र है भी बड़े मार्के का, लोग प्रायः स्वामीजी से गोसाईं जी की रामायण की चौपाइयों के अर्थ पूछा करते थे । जब रामायण समाप्त हो जाती थी, तो विनोदार्थ स्वामी जी पढ़ने और सुनने वालों से पूछ बैठते थे—"भाई, आज क्या-क्या सीखा, ज़रा कह तो जावो ।" कुछ उचित उत्तर न पाकर स्वामीजी फिर ज़ोरों से हँसते और उसी अपने पुराने सूत्र की पुनरावृत्ति कर डालते—

पढ़ना कम, गुनना ढेर ।

ऊपर से डाटते कि भला इस पढ़ने से क्या लाभ कि पढ़ तो ली सारी पोथी, और याद है एक काला अक्षर भी नहीं ! तात्पर्य्य यह कि, स्वामी जी तोते-की तरह रटन्त अथवा गधे की पीठ पर लदे हुए शास्त्रों की नाईं विना समझे हुए पढ़ी विद्या को निरर्थक और श्रमदायिनी समझते थे ।

झूठ बोलना उन्हें स्वभाव से बुरा लगता था । कह कर बात पूरी न करना उन्हें अखर जाता था । एक बार इस कथा-लेखक को भी, इस अपराध में, स्वामी जी की मीठी-मीठी चुटकियों का शिकार होना पड़ा था । बात यह थी कि स्वामीजी ने 'वराह-चरित्र' लेकर निर्दिष्ट स्थान पर

बुलाया था। लड़कपन के कारण मैं कहीं खेलता रह गया, और प्रतिज्ञात समय पर स्वामीजी के पास जाना ही भूल गया। दूसरे दिन शाम को जो उनके यहाँ गया, तो बिना 'वराह-चरित्र' के ही! बुरी गुजरी! स्वामी जी ने कहा—"लो भाई, अब ठाकुर लोग भी झूठ बोलने लग गये!" किसी ने पूछा, कैसे? स्वामीजी ने मुस्कराकर मेरी तरफ़ इशारा किया और कहा—"इनसे पूछो!" मैं तो शरम के मारे धरती में गड़ गया। पर दयालु इतने थे की तीन झूठ तक क्षमा कर देते!

स्वामी जी यद्यपि भाग्य और पौरुष को, मनुष्य के जीवन में, समान प्रभावोत्पादक तत्त्व समझते थे, तथापि पौरुष को अधिकतर विशेषता देते थे। तक़दीर ज़रूर बड़ी चीज है, लेकिन वह तदवीर से ही बनती है। एक बात अवश्य विलक्षण है, कि कभी-कभी आदमी मजबूर हो जाता अपने भाग्य से। स्वामीजी इस बात से सहमत थे कि बिना अदृष्ट या दैव (भाग्य अथवा संचित) की सहायता से अधटिक घटनाएँ कदापि नहीं घट सकतीं! कहाँ तो रामचन्द्रको राज मिलने जा रहा था और कहाँ वे भेज दिये गये, चौदह वर्षों के लिए, जंगलों में! इसी आशय का एक श्लोक स्वामीजी बहुत विराग-पूर्वक कहते थे! कहते-कहते ऐसा भाव प्रदर्शित करते थे कि मानों संसार के इस विशाल यन्त्र में मनुष्य का कोई हाथ ही नहीं!—

यच्चिन्तितं तदिह दूरतरं प्रयाति,
यच्चेतसापि न कृतं तदिहाभ्युपैति।
प्रातर्भवामि वसुधाधिपचक्रवर्त्ती—
सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी!

स्वामी जी के विचारों में जितनी निर्भीकता और स्वतन्त्रता होती थी, उतना ही अनुभव और गाम्भीर्य्य भी। वे कूपमण्डूकत्व से चिढ़ते थे, और हमारे यहाँ के छुवा-छूत का भूत उन्हें तहेदिल से घिनावना जान पड़ता था। परन्तु क्रान्तिकारी भावों का वे प्रचार नहीं करना चाहते थे। लोक-मत का वे ऐसा आदर करते थे कि छोटी-छोटी बातों में भी वे भड़कानेवाली राय नहीं देते थे। सवाल था ब्राह्मण-क्षत्रियादि उच्च जातियों के स्वयं हल चलाने का। स्वामीजी ने बड़ी प्रसन्नता से इसका अनुमोदन और समर्थन किया; शास्त्रों से प्रमाण दिये, पूर्व-पश्चिमस्थ देशों की चाल भी बताई; किन्तु, अन्त में, स्पष्ट कह दिया कि ऐसे उथल-पुथल करनेवाले काम अकेला कदापि नहीं करना चाहिए। जब ऐसे काम करै, दस भले आदमियों की सदा राय पूछ ले। नहीं तो, कठिनाई उपस्थित होने पर, उस अकेले व्यक्ति की दुर्दशा हो जाती है। फिर उसका कोई साथी नहीं मिलता।

देश की साधारण-स्थिति का भी स्वामी जी काफ़ी अच्छा ज्ञान रखते थे। सारे भारत-वर्ष की

प्रदक्षिणा कर आये थे। जब कभी मैंने उनसे समाचार-पत्रों की बात छेड़ी, तो स्वामी जी कह उठते, "भई, इन पत्रों से तो मुझे कोई विशेष लाभ नहीं दीखाता। ए तो और भी झगड़े पैदा करते हैं। लेकिन तो इनका प्रचार बढ़ता ही जा रहा है।"—भाषा-सम्बन्धी दोषों और गुणों का वे लम्बा—तज़िकरा छेड़ते थे; और कहीं जो हम बच्चों ने किसी शब्द की व्युत्पत्ति या अर्थ पूछ दिये, तो बड़ी देर लौं, कई तरह से, समझाते थे। मेरे 'उद्घाटित' शब्द के अर्थ पूछने पर स्वामी जी ने कहा—'खोला हुआ-हुआ'। मैंने फिर पूछा—"और 'परिवर्द्धित' के क्या माने?" स्वामी जी ने झट, उसी स्वर में, कहा—"बढ़ाया हुआ-हुआ।" इन "हुआ-हुआ-" वों पर मुझे बड़ी हँसी आई। स्वामी जी थे भी तो पंजाब के!

परमहंस स्वामी रामतीर्थ की नाईं, हमारे स्वामी जी ने कोई नया पन्थ नहीं चलाया। उन्हें अपने शास्त्रों के वचनों पर बड़ी आस्था थी, और कहा करते थे कि जो इन शास्त्रों के बताए हुये मार्गपर चलेगा, उसे डर नहीं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष से बढ़कर पाँचवाँ कोई उद्देश्य ही मनुष्य-जीवन का नहीं हो सकता। और इन चारों की प्राप्ति के साधन हमारे शास्त्रों में यथेष्ट रूप से वर्णित हैं। फिर क्या ज़रूरत है कि किसी नये पथ या मार्ग की तलाश में व्यर्थ श्रम किया जाय, और समय नष्ट हो? दया से बढ़कर धर्म, और सत्य से बढ़कर पवित्रता, स्वामी जी की राय में, और किसी भी अनुष्ठान में नहीं है। स्वामीजी के हज़ारों शिष्यों को यही शिक्षा दी गई है। जो लोग स्वामी जी से गुरु-मन्त्र लेते थे, उन्हें तो वे विशेष रूप से समझाते थे कि दया करो और सच बोलो। क्या आशा की जाय कि गुरुमन्त्र-दीक्षित स्वामी के ये भक्त शिष्य उनके बताये हुए इस पुनीत मार्ग-का अनुसरण करेंगे?

स्वामी जी को जिन बातों से प्रसन्नता प्राप्त होती थी, उनमें सफ़ाई और तन्दुरुस्ती खास चीज़ें थीं। वे गन्दे, रुग्ण और मलिन लोगों से नाक-भौं सिकोड़ते थे। कहा करते थे कि आदमी गन्दा क्यों रहे? रामने हाथ-पैर इस लिए तो दिये नहीं कि उन्हें बाँध के रक्खा जाय, ऊपर से उसने बुद्धि दी कि मनुष्य अपने भले-बुरे का विचार कर ले। इतने पर भी यदि कोई व्यक्ति गन्दगी को प्यार करै, फिर बीमार पड़े, और आखिर में मलिन और बेकार होजाय, तो यह उसकी निजी करतूतों का फल है, राम इन आपत्तियों के लिए जिम्मेदार नहीं हो सकता। बच्चों को तो वे सफ़ाई का ही पहला पाठ पढ़ाते थे। कपड़े साफ़ हों, बदन साफ़ हों—फिर मन और अन्तरात्मा साफ़ हो। सफ़ाई जीवन का सबसे बड़ा सिद्धान्त है। वे लोग सदा दुःखी रहेंगे जो गन्दे और सुस्त हैं। हमारे पूर्वजों ने सफ़ाई का वसूल खूब समझा था। नदियों में स्नान करना सब से अच्छा और आरोग्यप्रद है। खुली हवा में टहलने से स्वास्थ पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। रात के पहले पहर में सो जाने और प्रातःकाल बड़े तड़के उठ जाने की आदत वाले सदा सुखी रहते हैं। बच्चों को तो

स्वामी कभी भी अधिक देर तक रात को नहीं जागने देते थे। बड़ी ही कवित्त्वमय भाषा में समझाया करते थे कि जो बच्चा सवेरे ही खा-पी कर सो जायगा, वह 'कोठले'--जैसा मोटा, गुलाब के फूल जैसा लाल और भीम जैसा बलवान् होगा। कहानियाँ भी स्वामी जी उन्हीं लोगों को सुनाया करते थे जो हृष्ट-पुष्ट, बलवान और नीरोग होते थे।

स्वामी अचलानन्द गिरि का समस्त जीवन सदुपदेश और परोपकार में व्यतीत हुआ। ऐसा निरहंकार, ऐसा सच्चा तपस्वी, और इतना दयालु हृदय रखने वाला साधु, हमारी तरफ़, अब काहै को आयेगा? बड़े भाग्य थे जो स्वामी जी के चरण हमारे प्रान्त में आए। ईश्वर उनकी आत्मा को निरवधि मोक्ष प्रदान करै।

छठाँ खण्ड।

यों तो स्वामी अचलानन्द गिरि महाराज का सारा जीवन ही उस महद् यज्ञ के समान था जिसके पुण्य-प्रभाव से संसार के लाखों दीन-दुःखियों को शान्ति और सुख प्राप्त हुए; तौ भी उनके जीवन के दो ऐसे अंग हैं जो आप्रलय विद्यमान् रहैंगे। सच पूछिए तो, यही स्वामी जी की सांसारिक स्थिति रूपी विशाल भवन के दो ऐसे स्तम्भ हैं जिनके सहारे उनकी यशोलता सदा लहलहाती रहैगी। इस खण्ड में हम स्वामी जी के उस जीवन का वृत्तान्त लिखैंगे जिसकी भीत्ति पर उनका सम्पूर्ण ऐहिक यश अवस्थित है।

स्वामी जी का सबसे बड़ा काम "वराह चरितम्" जैसा काव्य-ग्रन्थ निर्माण करना है। इस काव्य में प्रायः महाकाव्य के सारे लक्षण मौजूद हैं। रामायण, महाभारत अथवा रघुवंशादि महाकाव्यों से इसकी तुलना करनी तो व्यर्थ है, लेकिन यह कहना, कदाचित्, अतिशयोक्ति नहीं कि यह काव्य भी अपने ढंग का अनोखा है। काव्य-बन्ध, कथानक और शैली—यद्यपि इसकी सभी पुराने ढर्रे की हैं, तथापि स्वामी जी की प्रतिमा, उनका नयापन और कल्पना-शक्ति पद-पद पर स्पष्ट और दर्शनीय हैं। रामायणादि का प्रभाव यद्यपि इस काव्य में स्थान-स्थान पर स्पष्ट है, तथापि इस में नवीनता का एक दम अभाव नहीं है। हम तो समझते हैं कि स्वामी जी के लिए ऐसा अच्छा और इतना बड़ा काव्य-ग्रन्थ लिख डालना कम गौरव की बात नहीं है। और, विशेष करके उस दशा में जब कि स्वामी जी का सारा समय लोगों को उपदेश देने और गाँव-गाँव भ्रमण करने में बीतता था।

'वराहचरितम्' की रचना-प्रणाली में कोई विशेष चमत्कार तो नहीं है, परन्तु इसका पुरानापन भी भद्दा और रूखा नहीं है । कवि ने गुरु-शिष्य-परम्परा से लाभ उठाकर, अपने काव्य का आरम्भ काशी में स्थित किसी विद्वान् गुरु के तीर्थ-सेवी और जिज्ञासु शिष्य की वार्त्तालाप से किया है । शिष्य ने सम्पूर्ण तीर्थों की यात्रा समाप्त कर दी, और, अन्त में, चलते-चलते, काशी से कोई पन्द्रह मील उत्तर, गोमती के किनारे, एक दिव्य स्थान में पहुँचा । वहाँ उसने दो अद्भुत और विशालकाय मूर्त्तियाँ, एक मन्दिर में स्थापित, देखीं । इन मूर्त्तियों को देखकर उसे कुतूहल पैदा हुआ कि आखिर ये मूर्त्तियाँ किनकी हैं, कब बनी थीं, और किसने इन्हें स्थापित किया । इन्हीं प्रश्नों को लेकर वह शिष्य अपने गुरुजी के सम्मुख उपस्थित हुआ । गुरुजी महाराज पुरातत्व–विशारद और कथा-पुराण कहने में बड़े सिद्ध-हस्त थे । अपने जिज्ञासु शिष्य की बातें सुनकर वे बहुत प्रसन्न हुए, और वराह जी की कथा कहने लग गये । गुरु जी ने कहा कि किसी समय में महाराज प्रतर्दन के वंश में सर्वसेन नामक एक महा तेजस्वी राजा हुआ । उस राजा के राज्य में प्रजावों को बड़ा सुख था । इस पुण्यात्मा राजाने वराहजी और उनके परम भक्त हनुमान् जी की दो विशाल-काय मूर्त्तियां बनवाके, गोमती के किनारे, एक मन्दिर में, उन्हें, बडी धूम-धाम से, स्थापित किया । कालक्रम से इस सर्वसेन के दिन बुरे आये । और शत्रुवों ने उसकी राजधानी पर धावा करके उसका नाश कर दिया । इस ध्वसंकारी राजा के वंश का भी, कुछ दिनों पश्चात्, नाश हो गया, और प्रजा में अज्ञान और अविद्या पढ़ने लगी । सन् १६५९ ई० में, दिल्ली के सिंहासन पर औरंगजेब बैठा, और उसने हिन्दुओं के देवतावों पर अत्याचार करना आरम्भ किया । उसने विन्ध्यवासिनी देवी के मन्दिर पर भी चढ़ाई की, और उसे नष्ट-भ्रष्ट करके काशी आया । विश्वनाथ के मन्दिर को तोड़वाके उसने एक मसजिद बनवाई, और काशी से उत्तर की तरफ़ चल पड़ा । कोटितीर्थ में पहुँच कर इस आततायी ने वराहजी का मन्दिर भी नष्ट करवा दिया, तथा वराह जी और हनुमान जी की मूर्तियों को गोमती में डलवा दिया । गोमती के गर्भ में ये मूर्त्तियाँ १८३ वर्ष तक डूबी रहीं । अन्त में, सम्वत् १९३२ विक्रमाब्द में, काशी से, एक विद्वान् सन्यासी (श्रीमदचलानन्द गिरि) उस प्रदेश में पधारे । जिस स्थान पर कभी तीर्थ-कोटि था, उस सन्यासी को वहीं एक शिवालय के अतिरिक्त और कुछ भी दृष्टि-गोचर न हुआ । इस प्रदेश में कुछ दिनों के निवास के अनन्तर, एक दिन आधीरात को, वराह जी ने स्वामी अचलानन्द को स्वप्न दिखलाया, और गोमती के जल से बाहर निकलने की इच्छा प्रकट की । स्वामी जी ने निकटस्थ गावों के लोगों से यह कथा कही, और इन दोनों मूर्तियों के निकाले जाने का आग्रह किया । घोड़-दौर-ग्राम के यशस्वी ठाकुर रघुनन्दर सिंह और रामगढ़के उत्साही मल्लाह रामदास की सहायता से, ये मूर्त्तियाँ, तल यन्त्र द्वारा, बाहर निकाली गईं ।

'वराह चरित्रम्' का यही, संक्षेप में, कथानक है। इसी की भित्तिपर स्वामी जी ने 'वराह चरित्रम्' जैसा सुन्दर काव्य-ग्रन्थ, सात सर्गों और ५५० श्लोकों में, लिख डाला है। प्रत्येक सर्ग विविध छन्दों और ललित संस्कृत में लिखा गया है। छन्दों के भेद, इस ग्रन्थ में, इतने देखने को मिलते हैं कि स्वामीजी की छन्दः शास्त्र की अगाध जानकारी पर बड़ा आश्चर्य होता है। इन पक्तियों के लेखक को जब स्वामीजी, बचपन में, संस्कृत पढ़ाया करते थे, तो वह प्रायः उनसे छन्दःशास्त्रविषयक प्रश्न किया करता था। स्वामीजी बहुत मुस्कराते और कहा करते थे कि जब तुम वराह चरित्रम् पढ़ने लायक संस्कृत जान जावोगे, तो तुम्हारे सारे प्रश्नों के उत्तर इकट्ठे मिल जाँयगे। बात सच निकाली, और आज मुझे आश्चर्य्य होता है कि स्वामी जी ने कहीं छन्दः पाण्डित्य प्रदर्शन के लिये ही तो यह ग्रन्थ नहीं लिखा था ! शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका और वंशस्थ–वृत्तों की भरमार तो इस ग्रन्थ में है ही, छोटे-छोटे छन्दों की संख्या भी कम नहीं है। चौथे सर्ग के आदि में, श्रीमद्भागवत् के नमूने पर, स्वामी जी ने गद्य-रचना भी बड़ी ही अनूठी की है। स्वामी जी को संस्कृत लिखने का अच्छा अभ्यास था। यह कहना कठिन है कि उनकी संस्कृत बाल्मीकि, व्यास और कालिदास की-सी प्रांजल, संगठित और उदार है, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि स्वामी जी ने बुरी और ग़लत संस्कृत बहुत ही कम लिखी है। जहाँ-तहाँ उनकी भाषा पर उपनिषदों के प्रभाव स्पष्ट नज़र आते हैं। किन्हीं—किन्हीं श्लोकों के पद, वाक्य और भाव तो बिल्कुल कालिदास और व्यास के पदों, वाक्यों और भावों के एक-दम प्रतिबिम्ब—से हैं। 'अथ', 'कु', 'सु', 'च', 'ह', 'ही', 'वा', 'तु', 'किल', 'सम'—इत्यादि की, कहीं—कहीं, ज्यादती-सी हो गई है। क्रिया-पदों में अक्सर असंगति आगई है, और पद-सन्धियों की बहुलता के कारण, कहीं-कहीं, अर्थ में दुरुहता सी नज़र आती है। शब्द भी प्रायः पुराने, अप्रचलित और जटिल व्यवहृत हुए हैं, और वाक्—प्रवाह (Idiom) का ध्यान जाता रहा है। परन्तु इन कतिपय दोषों के कारण कथा की रुचिरता और प्रवाह में कोई अन्तर नहीं पड़ने पाया है। कुल ग्रन्थ पढ़ जाने पर यह पछतावा नहीं रह जाता कि समय व्यर्थ नष्ट हुआ। नीति और शिक्षा का यथेष्ठ अंश, इस काव्य में, वर्त्तमान है, और पाठक तथा श्रोता को आन्तरिक सन्तोष भी काफ़ी मिलता है। यही काव्य का अन्तिम ध्येय है, और 'वराह चरित्रम्' में इसकी न्यूनता नहीं है।

स्वामी जी ने, इस काव्य के द्वारा, दो व्यक्तियों को अमर कर दिया है। घोड़दौर के नामी रईस ठाकुर रघुनन्दन सिंह साहेब का नाम, जब तक यह काव्य वर्त्तमान रहैगा, सदा, आदर और श्रद्धा से, लिया जायगा। यदि उक्त यशस्वी ठाकुर साहेब-सा सहायक स्वामी जी को न मिलता, तो इन मूर्त्तियों का निकाला जाना असम्भव ही था। ठाकुर साहेब का बड़ा आतंक और प्रताप था। यह उन्हीं का काम था कि उन्होंने स्वामी जी को अपने यहाँ रोक रक्खा। और इसका फल यह

हुआ कि 'वराह चरित्रम्' जैसा सुन्दर काव्य-ग्रन्थ प्राप्त हुआ। संस्कृत-साहित्य में यद्यपि अनेकों सुन्दर-सुन्दर काव्य-ग्रन्थ मौजूद हैं, तथापि इस ग्रन्थ के निर्माण से संस्कृत-साहित्य की श्री-वृद्धि ही हुई। स्वामी जी ने ठाकुर रघुनन्दन सिंह साहेब की श्रद्धा, भक्ति और सेवावों का अच्छा बदला चुकाया, और उनके प्रतापी नाम को सदा के लिय अमर कर दिया। दूसरा नाम उस परिश्रमी और स्वामीजी के अनन्य भक्त का है जिसके भावों और परिश्रमों का वर्णन स्वयं स्वामीजी ने बारम्बार किया है। रामदास के सुन्दर नाम पर स्वामीजी ने अमरत्व की मुहर लगा दी है। कई श्लोकों में उसकी प्रशंसा के गीत गाये गये हैं, और जो काम इस धीवर-प्रवर ने किया है, उसकी बड़ाई की इन्तहा नहीं। जल में घण्टों डूबा रहना, बार-बार मूर्तियों की खोज करना, और कभी भी हताश न होना,—रामदास को ही आता था। लोग ऊब गये, घबरा उठे; परन्तु रामदास ने कभी भी हिम्मत न हारी! वास्तविक यश तो इन मूर्तियों के निकालने का रामदास ही को प्राप्त है। और यह यश स्वामीजी ने, जी-खोल कर, रामदास को दिया है। रामदास के हिस्से में जो काम आया था, उसका अंजाम भी तो उसने दिलो-जान से दिया।

'वराह–चरित्रम्' में हमने जान-बूझ कर रसों की तलाश की। पर, दुर्भाग्यवश, कोई रस-विशेष न मिला। भक्ति का, अलबत्ता, अच्छा पुट-पाक हुआ है। इस काव्य का पहला, और, उसी प्रकार, अन्तिम श्लोक, वेदान्त के अद्वैत-भावों से भरा हुआ है। महाराज सर्वसेन ने जो वराह और हनुमान जी की स्तुति की है, वह भी भक्ति-भावों से ही ओत-प्रोत है। पौराणिक शैली का काव्य होने के कारण, श्रृङ्गारादि रसों का, इसमें, नितान्त अभाव है। हाँ, युद्ध का वर्णन अवश्य देखने योग्य है। परन्तु कवन्धों के नाचने, शिर और हस्त-पादों के छिन्न-भिन्न होने तथा रुधिर-प्रवाह के मारे सारा वर्णन भयंकर और वीभत्स हो गया है। दोनों सेनावों के परस्पर भिड़ने का बयान करने के लिए जो उपमायें ढूँढ़ी गई हैं, वे सब-की-सब पुरानी और प्रायः बाज़ारू हैं। कोई चुभती हुई बात, कोई नया और पुर-खयाल बयान, शायद ही, कहीं मिलै। बहुधा इधर–उधर से इकट्ठी की हुई बातों का संग्रह नजर आता है। कविता पढ़ने का मज़ा अक्सर ग़ायब हो जाता है, और कहानी के धीमे स्रोत में जी ऊबने लगता है। फड़कते हुए श्लोकों का नितान्त अभाव है। किन्तु सुपाठ्य श्लोकों की उतनी कमी नहीं है।

'वराह–चरित्रम्' में किस मत का प्रतिपादन किया गया है, यह भी एक प्रश्न है। यों तो काव्य में मनुष्य-जीवन की छाया ही होती है, हमारे सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक रहन-सहन और चाल-व्यवहार का ज़िक्र ही प्रधान वस्तु होती है, किन्तु तौ भी किसी-न-किसी मत विशेष का बोल-बाला होता ही है। इस काव्य में प्राचीन सनातन धर्म की पुट दी गई है, और स्मार्त वैष्णव तथा पौराणिक शैव-मत का प्रतिपादन किया गया है। जीवन की शुद्धता, पूजा-पाठ और सादगी पर

अधिक जोर दिया गया है। पुरुषार्थ प्राप्त करने के जो उपाय, इस ग्रन्थ में, बताये गये हैं, उनमें लोक-प्रचलित विश्वासों पर ही इसरार किया गया है। वर्णाश्रम-धर्म ही इस काव्य की शिला है। अर्थात् कोई नया धर्म चलाने का यत्न नहीं दिखाई देता। स्वामीजी पुराने विचार के सन्यासी थे। उन्हें व्यास के वचनों में बड़ा विश्वास था। महाभारत और रामायण जिन बातों के प्रचारक हैं, 'वराह-चरित्रम्' भी उन्हीं का प्रचार करता है। भगवद्गीता और केनादि उपनिषदों का धर्म ही इस काव्य का धर्म है। इस प्रकार जीवन की जटिल समस्यायों के हल करने का कोई नया मार्ग व्यर्थ नहीं ढूँढ़ा गया है।

"महाजनो येन गतः स पन्था"—

वाला मसला पेश करके, स्वामीजी ने, इस काव्य-द्वारा, बतलाया है कि अगर सन्मार्ग पर चलोगे तो जीवन की कठिनाइयों का डर नहीं। इस काव्य का यही सार है।

स्वामीजी बड़े विनीत और साधु व्यक्ति थे। 'वराह-चरित्रम' के अन्त में जो छन्द उन्होंने लिखे हैं, उनसे भक्ति, श्रद्धा और विनय की ज़बरदस्त गंध आती है। गोसाईं तुलसीदास की नाईं, वे भी 'कवि' होने का दावा नहीं करते। वे तो कहते हैं कि मैंने इस ग्रन्थ को "व्यासादि वाक्यानि विचार्य सम्यक्" लिखा है। जहाँ-कहीं कुछ भी 'स्वबुद्ध्या परिकल्पितं' है—अपनी तरफ़ से बढ़ा-घटा दिया गया है—उसे विद्वान् लोग क्षमा कर दें—

"सोढव्यमेतद्विदुषां तु साहसम्।"

अपने इस काव्य को स्वामीजी 'काव्य' नहीं मानते। इसे तो वे 'काव्य-भासं'—अर्थात् काव्य-नाम-धारी लेख-विशेष— ही कहते हैं। और इस काव्य के पढ़नेवालों से उनकी प्रार्थना है कि—

यथा शिशूनां विकलाक्षरां गिरं
शृण्वन्ति पित्रादय एव हर्षिताः।
तथा ममेदं किल काव्य-भासं
शृण्वन्तु पश्यन्तु विमत्सरा नराः॥

क्योंकि यदि काव्य की कठिन कसौटी पर यह ग्रन्थ कसा गया, तो स्वामी जी को डर है कि कहीं दोषों का अंश अधिक न निकल आवै। इसी लिए वे फिर माफ़ी मांगते हैं कि—

न चास्ति किंचिन्मम बुद्धि-वैभवं
कोशादि काव्यादि न साधनानि।

सो, जो-कुछ भी मुझसे बन पड़ा है, वह सब-का-सब श्रीमद्वराह जी की कृपा का फल है। मैं तो केवल कठपुतली की नाईं निमित्त-मात्र रहा हूँ। मेरी वाणी स्वतन्त्र नहीं है—

योषा तथा दारुमयी विचेष्टते
यथेषिता सूत्रधरेण तद्वत् ।
हृदि स्थितेनाखिलसाक्षिणेरिता
प्रवर्त्तते वाङ् न च सा स्वतन्त्रा ।

अतएव, मेरे गुण-दोषों का ज़िक्र ही व्यर्थ है ।

स्वामी जी को, इस ग्रन्थ से, यश की ज़रा भी अभिलाषा नहीं थी । उन्होंने तो इसे भगवान् की कृपा से निर्माण किया था, और उन्हीं के चरणों में इसे अर्पित कर दिया—

मयेदमाख्यातमतीव सुन्दरं, श्रीमद्वराहस्य चरित्रमद्भुतम् ।
एतद्विध तस्यैव पदारविन्दयोः, वसत्वजस्रं भ्रमरीव पङ्कजे ॥

स्वामी जी जैसा जीवन-मुक्त सन्यासी इससे बढ़ कर अभिलाषा ही क्या रख सकता है ? उन्होंने तो इस काव्य को महज़ "प्रमोदाय विचक्षणानां", और जो विचक्षण नहीं हैं, उनके "भ्रमापनोदाय" निर्माण किया था । सो इस हँसी-खेल के सामान में मज़ा-ही-मज़ा भरा है, और इसी की तलाश भी करनी चाहिए ।

सातवाँ खण्ड

स्वामीजी ने अपने काव्य को सात सर्गों में विभक्त किया है । सो, उनकी जीवनी में भी सात खण्ड होने चाहिएँ । यही विचार करके इस सातवें खण्ड की सृष्टि की गई है । इस खण्ड में, कुछ ऐसे शब्दों पर टिप्पणियाँ लिखी गई हैं, जिनके जान लेने से काव्य के पढ़ने में पाठक को सुविधा होगी, और अर्थ समझने में अधिक आनन्द आएगा । यों तो इस काव्य में कोई विशेष उलझन नहीं है, और न कथानक ही कोई अधिक झमेले में गिरफ़्तार है; तथापि जो हवाले कहीं-कहीं आए हैं, उनका निराकरण कर देना मैं अपना धर्म समझता हूँ । कोटि-तीर्थादि स्थानों पर टिप्पणी लिखना, इस समय, ज़रूर कठिन है; क्योंकि समय के फेर ने अब इन स्थानों के रूप तलक बदल दिये हैं । तौभी जितना हाल इनका जानना चाहिए, और जितने वृत्तान्तों पर स्वामी जी ने अपने काव्य की भित्तिक़ायम की है, उतना हाल तो जान ही लेना चाहिए । सो यदि इन टिप्पणियों से पाठक को पूरी जानकारी न प्राप्त होगी, तो, कम-से-कम, उनका कुछ मनोरंजन तो हो ही जायगा ।

(१)

कोटि-तीर्थ रामगढ़ में, गोमती के किनारे, अब भी एक पुराने जंगल के चिन्ह विद्यमान हैं। वहाँ जाने से जान पड़ता है कि हो-न-हो यह स्थान, कभी-न-कभी, किसी ऋषि की तपो-भूमि रही होगी । गोमती का दृश्य बड़ा ही रमणीक और चित्ताकर्षक है । आस-पास के पेड़-पल्लव भी सुन्दर और किसी पुरानी स्मृति के सूचक से जान पड़ते हैं । मानो वहाँ कोई नगर रहा हो । यदि स्वप्नों में कोई सच्चाई हो, तो मेरा विचार तो यह है कि महाराज प्रतर्दन और उनके वंशज महाराज सर्वसेन के क़िले भी यहीं रहे होंगे । पर इस बात का कोई बाहरी प्रमाण नहीं है । ख़ैर ।

जिस स्थान पर वराह जी और हनुमान जी की मूर्त्तियां स्थापित हैं, उसी स्थान को स्वामी जी ने कोटि-तीर्थ माना है । महाभारत के वन-पर्व में कोटि-तीर्थ का वर्णन आया है । महाभारत में यह भी लिखा है कि अज्ञात-वास के समय पाण्डव-लोगों ने यहाँ कुछ दिनों तक निवास किया था । इलाहाबाद के ज़िले में, गंगा के किनारे, लाक्षागृह के हादसे के बाद, बहुत सम्भव है, पाण्डव पूरब की तरफ़ चल पड़े हों; और उन दिनों भारत का यह भाग काफ़ी बड़े-बड़े जंगलों से ढका हुआ था । गंगा की तरेटी छोड़ कर, थोड़ा ही उत्तर चलने से, गोमती का तट मिल जाता है । और यदि गोमती के किनारे-किनारे कुछ दूर चलें, तो निस्सन्देह, कोटि-तीर्थ जैसी सुन्दर जगह में पहुँच जाँयगे। मुमकिन है, यहाँ पाण्डवों का जी लग गया हो, और वे, कुछ दिनों के लिए, यहीं ठहर गये हों ।

महाभारत के अतिरिक्त कोटि-तीर्थ का ज़िक्र और कहीं देखने में नहीं आता । चित्र-कूट के पहाड़ों पर एक तीर्थ अलबत्ता है जिसका नाम कोटि-तीर्थ से मिलता-जुलता है । लेकिन तो चित्रकूट वाले तीर्थ का नाम, आज-कल, "कूट-तीर्थ" है । यद्यपि कोटि-तीर्थ और कूट-तीर्थ के एक ही स्थान होने की बहुत कुछ सम्भावना है, तथापि इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि ये दोनों स्थान कभी एक ही थे । 'कूट' का शाब्दिक अर्थ पर्वत की 'चोटी' है; और 'कोटि' का अर्थ 'श्रेणी' या 'करोड़' (संख्या-वाचक) होता है । मेरी समझ में, इस प्रकार, 'कूट' और 'कोटि' शब्दों में आकाश-पाताल का अन्तर है । जो स्थान पर्वत की चोटियों पर हो, उसका नाम स्वभावतः 'कूट-तीर्थ' होना चाहिए । और, जो स्थान नदी के किनारे, घाट की सीढ़ियों (संस्कृत—श्रेणियों) से मिला हुआ हो, उसका नाम 'कोटि–तीर्थ' होना ही चाहिए । इस तरह, कोटि–तीर्थ का अर्थ भी ठीक–ठीक उतरता है,—अर्थात् श्रेणी (सीढ़ी) वाला तीर्थ । सम्भव है, किसी ज़माने में, इस स्थान पर गोमती पर घाट बँधे हुए हों, और उन घाटों की सीढ़ियों का विचार करके ही इस स्थान का नाम 'कोटि–तीर्थ' रक्खा गया हो । लेकिन तो यह सब महज़ कल्पना और स्वप्न पर ही दलालत रखता है; कोई ख़ास सबूत इसके लिए नहीं है ।

पाण्डवों के बस जाने के कारण कोटि-तीर्थ का माहात्म्य और भी बढ़ गया। महाराज सर्व-सेन ने, जान पड़ता है, इस स्थान को सबसे अधिक प्रसिद्ध कर दिया। स्वामीजी के मतानुसार तो ये मूर्त्तियां महाराज सर्व-सेन की ही स्थापित की हुई हैं। इतिहास का ठीक-ठीक पता न होने के कारण, यह नहीं बतलाया जा सकता कि इस स्थान पर कौन-कौन ऋषि, मुनि और तपस्वी-लोग रहते थे। पर स्थान की ख्याति बढ़ी हुई सी नज़र आती है। हो-न-हो, औरंगज़ेब के ज़माने में इसका बड़ा नाम रहा हो। जौनपुर पास ही है। पर जौनपुर के नवाबों और बादशाहों ने कभी इस स्थान पर धावा नहीं किया! लेकिन तो औरंगजेब ने यहाँ की मूर्त्तियों को गोमती में डलवा दिया, और उनके मन्दिरों को तोड़-ताड़ कर रसातल को पहुँचा दिया! यह भी सम्भव है कि नदी की धारा बदल गई हो, और जिस जगह पुराना कोटि-तीर्थ था आज वहाँ गोमती हलरें ले रही है।

(२)

सर्वसेन—महाराज सर्वसेन का कोई विशेष हाल नहीं मालूम है। पर यह नाम संस्कृत काव्यों में बार-बार आता है। सर्वसेन सम्बन्धी कहानियां संस्कृत साहित्य में प्रायः बिखरी हुई मिलती हैं। पर यह सर्वसेन कौन थे, किस समय पैदा हुये, और इनके राज्य का क्या विस्तार और प्रस्तार था—इन प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर देना, ज़माना हाल में, मुमकिन नहीं। स्वामीजी ने जो कथा सर्वसेन सम्बन्धी लिखी है, वह इतनी छोटी और असम्बद्ध है, कि पाठक की उससे मनःतृप्ति होनी बहुत कठिन है। इतना ज़रूर कहा जा सकता है कि हज़ारों वर्ष पहले, सर्वसेन नाम का कोई प्रतापी राजा, गोमती के आस पास वाले देश में, राज करता था। सर्वसेन के राज का जो चित्र स्वामीजी ने खींचा है, वह बड़ा ही भव्य, धन-धान्य से सम्पन्न और प्रभावशाली है। सर्वसेन के शत्रुओं को उससे डाह था। सर्वसेन की बढ़ती हुई समृद्धि उनसे न देखी गई, और एक बहुत बड़ी सेना इकट्ठी करके उन्हों ने सर्वसेन की राजधानी पर चढ़ाई कर दी। सर्वसेन जैसा न्याय-प्रिय और भक्त राजा इस आततायी-दल का सामना करने को तैयार तो हो गया, लड़ाई भी की, और अपने अनेकों सरदारों के साथ युद्ध में काम भी आया, किन्तु, वस्तुतः, सर्वसेन में इतनी शक्ति न थी कि वह अपने शत्रुओं की चढ़ाई का जवाब सफलता पूर्वक दे सकता। सर्वसेन के बाद उसके वंश में कौन कौन राजा हुये, इसका पता नहीं।

महराज सर्वसेत की प्रवृत्ति प्रायः धर्म-शील थी। बराह जी और हनुमान जी की मूर्त्तियों को स्थापित करना, यह सिद्ध करता है कि उनमें धर्म-रुचि का विशेष प्राबल्य था। मेरी समझ में, स्वामी जी ने महाराज सर्वसेन को इन दोनों मूर्त्तियों का बनाने वाला इसलिये माना है कि महाभारत प्रसिद्ध सार्वसेनी कथा का पुनरुद्‌घाटन हो जाय, और लोगों के सामने वह प्राचीन स्मृति खड़ी हो

जाय जिसमें राजा-महाराजा लोग भी धर्म को ही जीवन का प्रधान ध्येय समझते थे, और धर्माश्रय में ही अपनी ज़िन्दगी का सबसे बड़ा हिस्सा गुज़ारते थे। श्रीमद्वराह जी और हनुमान जी की जो स्तुतियाँ महाराज सर्वसेन ने, वराह चरित्रम् में, की हैं, उनसे भी इस धर्म-प्राण राजर्षि का चरित्र और शील प्रकट होता है।

(३)

औरंगज़ेब—औरंगज़ेब मुग़लों में सबसे बड़ा राजा था। इसने सन् १६५९ से १७०७ई० तक दिल्ली में हुकूमत की। इस बादशाह ने हिन्दुओं को जिस क़दर दिक़ किया, उनकी देवी-देवताओं के मन्दिर तोड़े, और उनके धर्म पर आघात किया—इसका ज़िक्र चलाकर इस पुस्तक की काया-वृद्धि करनी हमें मन्ज़ूर नहीं है। पर इतना कहे बिना हम नहीं रह सकते कि औरंगज़ेब ने हिन्दुओं के धर्म को मिट्टी में मिला देने का ही प्रण किया था। इस्लाम धर्म की वृद्धि के लिये जो-जो उपाय हो सकते थे, उसने प्रायः सभी उपाय इकट्ठे किये और उनसे काम लिया। मन्दिरों को तोड़वाना, मूर्त्तियों को बे-इज्ज़त करना, पुस्तकें जला देना, और पाठशालायें बन्द करवाना—औरंगज़ेब की धर्माभिरुचि की ख़ास बात थी। उसने फ़रमान जारी किये थे कि कोई नये मन्दिर न बनवावे, और न नई मूर्त्तियों की स्थापना करे। अगर ऐसे मन्दिर बनते हुये कहीं पाये जायँ तो वे तुरन्त गिरा के नाश कर दिये जायँ! सन् १६६९ ई० में विश्वनाथ का मन्दिर गिरा दिया गया और उसकी जगह एक बड़ी सी मसजिद बनाई गई। कुछ ही दिनों बाद मथुरा में प्रसिद्ध केशवदेव का मन्दिर ख़ाक में मिला दिया गया और उसी स्थान पर एक विशाल मसजिद का बिस्मिल्लाः हुआ।

स्वामी जी ने औरंगज़ेब का कोई बुरा चित्र नहीं खींचा है। हाँ, उसे "महान खल," "यवनाधम," और प्रकृत्या-"दुष्ट" अवश्य कहा है। यह सम्बोधन औरंगज़ेब के लिये कोई बहुत ख़राब नहीं है। औरंगज़ेब की ज़िन्दगी का ज़िक्र करने का न तो कोई मौक़ा था, और न स्वामी जी ने उसके अत्याचारों का उल्लेख करके व्यर्थ परिश्रम करना अच्छा समझा। इतिहासज्ञों को मालूम है कि औरंगज़ेब ने अपनी धर्म-नीति के कारण हिन्दू प्रजाओं का कितना जी दुखाया था। स्वामी जी ने महज़ इसी नीति का तज़किरा करना उचित समझा, और वराह-चरित्रम् जैसे पुराण-गर्भित काव्य के लिये इससे ज्यादा आततायीपन की जरूरत भी नहीं है।

चूँकि वराह-चरित्रम् को स्वामी जी ने "किल काव्यभासम्" कहा है, इसलिये काव्य के विषय में भी कुछ कह देना मैं उचित समझता हूँ। स्वामी जी छन्दःशास्त्र के बड़े पंडित थे। चूँकि वराह-चरित्रम् उनका पहला (और आख़िरी भी) ग्रन्थ है, इसलिये उसमें काव्य के अन्यान्य अंगों की यथेष्ठ पुष्टि नहीं होने पाई है। न तो हम वराह-चरित्रम् को महाकाव्य ही कह सकते हैं, न

खण्ड-काव्य । चौथे सर्ग के आरम्भ में तथा छठें सर्ग के मध्य में जो गद्यमय थोड़े से वर्णन आये हैं, उनको देखकर तो वराह-चरित्रम् को चम्पू कहैं तो कोई बेजा न होगा । लेकिन जो सूरत चम्पू की होनी चाहिये, गद्य और पद्य का जो अन्तर्न्यास ज़रूरी है, वराह-चरित्रम् में उसका नितान्त अभाव है। सो वराह-चरित्रम् का कोटि-निराकरण मुश्किल जान पड़ता है । हाँ, श्रीमद्भागवत के आधार पर, अगर इसे पुराणों की श्रेणी में बिठलावें, तो, शायद, बुरा न होगा । स्वामी जी ने यही सोचकर आरम्भ में अपने इस काव्य का नाम "वराहपुराण" रक्खा था। पर पुराणों की कुल सामग्री—जैसे कथा का विस्तार, उपकथाओं का सन्निवेषण, और कहानी की अत्यधिक प्राचीनता, इत्यादि—इस ग्रन्थ में न होने के कारण, खुद स्वामी जी ने इसका नाम बदल दिया और "वराह-चरित्रम्" जैसी गोलमगोल उपाधि से विभूषित किया ।

कुल कहानी सात सर्गों में विभक्त होने के कारण महाकाव्य की परिभाषा के अन्तर्गत वराह-चरित्रम् नहीं आ सकता । महाकाव्य में कम से कम आठ और अधिक से अधिक तीस सर्ग होने चाहियें । महा कवि दारडिन की परिभाषा के अनुसार महाकाव्य में नवो रसों का परिपाक होना चाहिये। वराह-चरित्रम में तो शृङ्गार का गन्ध भी नहीं आने पाया है। वीर, भयानक, और शान्त रसों का, अलबत्ता, ख़ासा अच्छा ज़हूर हुआ है। कथा-नायक के हिसाब से भी यह ग्रन्थ महाकाव्य नहीं ठहरता । मूर्तियाँ कथा-नायक नहीं हो सकतीं । वराह जी और हनुमान जी यदि कथा नायक मान लिये जायँ, तौभी इनके यश का कोई ख़ास बयान, बराह चरित्र में, नहीं आया है। व्याह, बारात, जलक्रीड़ा, मद्यपान, पुत्रजन्म, चन्द्रोदय, सुर्योदय, प्रभात, सन्ध्या, पर्वत, नदी, और तालाब इत्यादि का वर्णन भी प्रायः शून्य के समान है।

यद्यपि इन अंगों की कमी के कारण काव्य में कोई दूषण नहीं उपस्थित होता, तथापि सम्पूर्ण अंगों से युक्त न होने से कोई भी ग्रन्थ महाकाव्य नहीं कहा जा सकता । मेरी समझ में, वराह-चरित्रम् को खण्ड-काव्य कहना ही सहीह और दुरुस्त होगा ।

श्रीगणेशायनमः

श्रीमद्वराह–चरित्रम्

प्रथमः सर्गः

मङ्गलाचरणम् ।

सत्यं ज्ञानमनन्तमेकमचलं, विश्वस्य हेतुं परम् ।
श्रीकृष्णं च तथैव देशिकवरं, कर्म्मन्दि-वृन्दस्तुतम् ॥
नत्वा निस्सरणं महाद्भुततरं, वक्ष्ये त्रि-तापापहम् ।
श्रीमद्यज्ञवराह-वायु-सुतयोः, श्रीगोमती-मध्यतः ॥ १ ॥(क)

अर्थ—सभी आचार्य्यों की शैली है कि ग्रन्थ के आदि में, उसके निर्विघ्न समाप्त होने की कामना से, मंगलाचरण करते—अपनी दीनता और अक्षमता तथा कार्य्य की गुरुता दिखाकर सर्व-सशक्त प्रभु से साहाय्य-प्रार्थना करते हैं। अतएव, इसी तथ्य को लेकर, इस काव्य के प्रणेता भी प्रभु-प्रार्थना, वा मंगलाचार, करते हैं—

(क) यह "शार्दूल-विक्रीड़ित" छन्द है। इसका लक्षण है—एक म-गण, एक स-गण, एक ज-गण, एक स-गण, दो त-गण और एक गुरु प्रत्येक पाद में होते हैं। १२ और ७ वर्णों पर यतियां होती हैं। ४ पद होते हैं।

"सूर्य्याश्वै-र्मसजस्तताः सगुरवः" शार्दूलविक्रीडितम् (पिङ्गल०)

* जो भगवान् निर्भान्त "सत्य" स्वरूप है, जो बुद्धिमानों के सम्पूर्ण प्रश्नों का एक मात्र उत्तर "ज्ञान" रूप है, जिसके अन्त की, बहुत अनुशीलन-मनन के अनन्तर भी, ठीक निश्चय न होने से "अनन्त" उपाधि है, समग्र ब्रह्मांड में अनवछिन्न रूप से व्यापक और तत्सम अन्य किसी के न होने के कारण, जो "एक" संज्ञा से प्रतिबोधित होता है, किसी प्रकार के भी परिवर्तन न होने से जो "अचल" (निश्चल) कहा जाता है, और इन सम्पूर्ण प्रपञ्चों का जो श्रेष्ठ विधाता है, तथा जो इस प्रकार अनादि, अनन्त एकाचल होते हुए भी, भक्तों के हित और घटना-चक्र के चलाने के निमित्त, राम-कृष्ण आदि पवित्र-जन्म धारण करता है, उस परम-पावन प्रभु को एवं सिद्ध योगियों से स्तुति किए हुए सद्ज्ञान-प्रदाता श्रीगुरुवर्य्य को प्रणाम करके, मैं इस दैहिक-दैविक और भौतिक त्रितापों को नाश करने वाले श्रीगोमती के जल से श्रीमद्वराह और हनुमान जी के महाआश्चर्य-मय निकाले जाने का वर्णन करता हूँ ॥१॥

भूमिका ।

आलोड्य भारतं कृत्स्नं, स्कन्दादीन्यागमानिच ।
काव्यं श्रीमद्वराहस्य, चरित्राख्यं करोम्यहम् ॥ २ ॥
आचार्य्य–शिष्य–सम्वाद–रूपेणातीव पावनीम् ।
कथां वच्म्यधुनोत्पन्न–जनानन्द–प्रदायिनीम् ॥ ३ ॥

अर्थ—मैं सम्पूर्ण महाभारत, भागवतादि महा-पुराण और शास्त्रों का मंथन करके, वर्त्त-मान-काल में उत्पन्न हुए जीवों को आनन्द-प्रदान करने वाली, परम पवित्र कथा को, श्रीमद्वराह चरित्र नामक काव्यमें, गुरु-शिष्य-सम्वाद-रूप से, कहता हूं ॥ २, ३ ॥

कथारम्भः ।

अविमुक्ते भव-क्षेत्रे, जन्तुमात्रस्य-मुक्तिदे ।
सन्यासि-प्रवरं कञ्चनासीनं परमासने ॥ ४ ॥

---

* ये "सत्य," "ज्ञान," "अनन्त," "एक," "अचल," "विश्व-रूप," "जगद्धेतु," "पर," और ऐसे ही अनेकों दूसरे, ईश्वर के, उसके गुण-कर्तव्यानुसार, ब्रह्मज्ञों द्वारा सिद्ध किए हुए नाम हैं। ज्ञानी पुरुष इन्हीं सर्व-सम्मत उपाधियों से दुर्गम्य भगवान् का ध्यान करते हैं;—या यों कहिये—ब्रह्मासक्त जीवों के यही धन हैं।

धर्म्मम्परमहंसानामाश्रितं पावनम्परम् ।
निगमागम-तत्वज्ञं ध्यायन्तम्ब्रह्म-निष्कलम् ॥ ५ ॥

पप्रच्छाभ्येत्यतच्छिष्यः कृताष्टांगनतिः सुधीः ।
तीर्थ-सेवी विशुद्धात्मा, कृताञ्जलि-पुटो महान् ॥ ६ ॥

अर्थ—प्राणि-मात्र को मुक्ति प्रदान करने वाली, अवि मुक्त, शिव-पुरी, काशी, में, परम-धर्म-परायण, वेद-शास्त्र-तत्व-ज्ञाता, निष्कल-ब्रह्मोपासक, अत्यन्त पवित्र, परम-आसन पर विराजमान किसी द्रविड़-श्रेष्ठ के समीप प्राप्त होकर उनके तीर्थ-सेवी, विशुद्ध-मना, विद्वान् शिष्य ने, साष्टांग-प्रणाम एवं हाथ जोड़कर, कहा— ॥४, ५, ६ ॥

शिष्य उवाच ।

स्वामिन् ! युष्मत्प्रसादेन, भूमि-पर्य्यटनं मया ।
स्नानं च सर्व-तीर्थेसु, कृतं ख्तातेसु भू-तले ॥ ७ ॥

अर्थ—स्वामिन् ! मैंने, आपकी कृपा से, भूमि पर्य्यटन, तथा संसार के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध तीर्थों का स्नान-ध्यान भी समाप्त कर दिया ॥ ७ ॥

*क्षेत्राणि रम्याणि परस्य विष्णो
देवस्य संहर्तुरथाष्ट-मूर्त्तेः ।
देव्या गजास्यस्य तथांशुमालिनो,
दृष्टानि सर्वाणि तथेतरेषाम् ॥ ८ ॥

अर्थ—श्रेष्ठ-देव, विष्णु, संहारकारी, महादेव, आदि-शक्ति, देवी, गजानन, गणेश, एवं सूर्य्य भगवान् तथा अन्य-देवताओं के सभी रमणीय क्षेत्रों के दर्शन हमने कर लिये ॥ ८ ॥

---

*इन्द्रवज्रा छन्द ।

तत्राद्भुतान्यद्भुतवैभवानाम् सद्मानि विष्णोः प्रमुखामराणाम् ।
साक्षात्कृतान्याशवघ-नाश-दक्षा-स्तन्मूर्त्तयस्तत्र मयानुदृष्टाः ॥ ९ ॥

अर्थ—उपरोक्त स्थानों में विष्णु-आदि देवतावों के विचित्र-विभूतियों से भरे हुए मन्दिर हैं। मैंने उनमें स्थापित, दर्शन मात्र ही से सम्पूर्ण पापों का विनाश करने वाली देव मूर्त्तियों के दर्शन किये ॥ ९ ॥

इतो यातो गयान्देवं, दृष्ट्वा ह्यादिगदाधरम् ।
पितॄनुधृत्य यातोऽहं, गङ्गा-सागर-सङ्गमम् ॥ १० ॥

अर्थ—यहाँ से मैं गया जी गया। वहाँ आदि-देव, श्री गदाधर स्वामी के दर्शन किये; और स्व-पितृगणों का उद्धार करके, श्री गंगा-सागर-संगम-तीर्थ को प्रणाम किया ॥ १० ॥

तत्र स्नात्वा हरिन्नत्वा, कपिलाख्यं जगद्गुरुम् ।
गतः शैलं महेन्द्राख्यं, सर्व-शैलोत्तमोत्तमम् ॥ ११ ॥

अर्थ—वहाँ स्नान-पूर्वक जगतगुरु भगवान् कपिलाचार्य्य को नमस्कार किया; और, तब वहाँ से पर्वत-श्रेष्ठ महेन्द्राचल को चल पड़ा ॥ ११ ॥

*ततः स्नात्वा सम्यग्, विमलतर-नीरे जल-निधौ ।
जगन्नाथं द्रष्टुं, सकलजगतामीशमगमम् ॥
अथोदृष्ट्वार्चित्वा, कृतनुतिरहं हन्त सनतिः ।
निमग्नः सञ्जातः, सहज-सुख-पूरे जल-निधौ ॥ १२ ॥

अर्थ—तब मैं स्वच्छतर जल वाले समुद्र में भले प्रकार स्नान करके सम्पूर्ण संसार के स्वामी, जगन्नाथ, के दर्शन के हेतु गया। तदनन्तर हर्ष-पूर्वक विनम्र भाव से, दर्शन-पूजा करके सहज-सुख-पूर्ण-जल-निधि में निमग्नामग्न हो गया ॥ १२ ॥

---

* इस छन्द का नाम है "शिखरिणी"। ६ और ११ के विश्राम पर चार चरण होते हैं। वृत्तों में गयय है। अतः इसमें य, म, न, स; भ-गण तथा एक लघु और उतनाही गुरु होता है---"रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी।" (पिङ्गल०)

अथागतोऽहं जगतां विधात्र्याः शक्तेर्हरेः स्थानमतीव रम्यं ।
विन्ध्यं नगानां परम्प्रधानम्, दृष्टार्चिता साथ मया हि देवी ॥ १३ ॥

अर्थ—तदनन्तर मैंने पर्वतों में परम श्रेष्ठ विन्ध्या-गिरि को, जहाँ जगद्विधात्री, आदि-शक्ति भगवती एवं श्री विष्णु भगवान् का अतिशय पावन क्षेत्र है, प्रस्थान किया। उस पवित्र स्थान के दर्शन करके, मैंने श्री देवी जी की अर्चना की ॥ १३ ॥

चतुर्विधानां-भक्तानां, स्व-स्वेप्सित-फल-प्रदा ।
जगद्धिताय नित्यापि, या विरस्ति युगे-युगे ॥ १४ ॥

अर्थ--जो भगवती अपने चार प्रकार के भक्तों को (१—आर्त, २—जिज्ञासु ३—अर्थार्थी और ४--विज्ञान-वादिकों को) स्वेछन्ति फल-प्रदान करने वाली हैं; जो नित्य होकर भी, संसार के कल्याण के निमित्त, प्रत्येक युग में, काम पड़ने पर, प्रकट होती हैं, मैंने उनकी पूजा की ॥१४॥

तीर्थ-राजं ततो यातः प्रयागं सर्व-सिद्धिदम् ।
दर्शनात्स्पर्शनात्पानान् मज्जनात्पाप-नाशनम् ॥ १५ ॥

अर्थ—वहाँ से मैं दर्शन, स्पर्शन, पान-मज्जन मात्र ही से समस्त पापों का विनाश करने वाले, एवं सम्पूर्ण ❀ सिद्धियों को देने-वाले, तीर्थ-राज, प्रयाग, को गया ॥ १५ ॥

❀ सितासितेभि सिस्नात्वा, जपित्वा च माधवम् ।
अक्षय्य-वटमास्पृश्य, चित्र-कूटं ततोऽगमम् ॥ १६ ॥(क)

अर्थ—वहाँ पर गंगा-यमुना के सन्धि-स्थल पर स्नान करके श्री-देव-देव माधव जी का ध्यान और उनकी पूजा की; तथा अक्षय्य-वटवृक्ष का स्पर्शन करके चित्र-कूट-तीर्थ को प्रस्थान किया ॥ १६ ॥

❀ सिद्धियां आठ हैं—(१) अणिमा, (२) महिमा, (३) लघिमा, (४) गरिमा, (५) प्राप्ति, (६) प्राकाम्य, (७) ईशित्व, और (८) वशित्व।

❀ यहाँ सितासित का अर्थ है-गङ्गाजी का उज्वल-जल एवं यमुना जी का नीला जल।

(क) अत्र षोड़श-श्लोके प्रयत्ने लिट् प्रयोगादिक छन्दो विषयक लिट् स्थानिक क सु प्रयोगाच्च पदान्तरो पन्यासः। स्वामीजी।

मन्दाकिन्यामथ स्नात्वा, संशुद्ध-तनु-मानसः ।
कृतवान्निखिलां यात्रां तदीयामानुपूर्वशः ॥ १७ ॥

अर्थ—तदनन्तर चित्र-कूट की परम पवित्र नदी, मन्दाकिनी, में स्नान करके शरीर और मन, दोनों, से पवित्र हो गया; तथा वहाँ की, यथा पूर्व, समग्र यात्रा समाप्त की ॥ १७ ॥

ततो बृन्दावनं यातो, मनोज्ञं महतामपि ।
अवतीर्णः स्वयं यत्र पुरुषो मायया स्वया ॥ १८ ॥
परित्राणाय साधूनां, विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म्मसंस्थापनार्थाय, योधत्त उशती तनुम् ॥ १९ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् मैं महात्माओं की प्रिय-भूमि, बृन्दावन, गया, जहाँ, सज्जनों की रक्षा, पर-पीड़कों के निधन, और धर्माभिस्थापन के निमित्त, स्वयं सत्पुरुष श्रीमन्नारायण ने, अपनी माया से, सुन्दर शरीर धारण किया था ॥ १८, १९ ॥

ततस्सम्यक्स्नात्वा, दिन-कर-सुता-निर्मल-जले ।
कृता यात्रा सर्वा, विमल-मनसायां सुखकरा ॥
ततस्तस्माद्यातो, यदु-पति-पुरिं हन्त मथुराम् ।
रमा-नाथो यस्यां, स्वजनमपि कंसं समवधीत् ॥ २० ॥

अर्थ—वहाँ सूर्य्य-पुत्री, यमुना, के पवित्र-जल में भली-भाँति स्नान करके, विशुद्धात्माओं को आनन्द-दायिनि समस्त यात्रा सम्पन्न की । इस हेतु, तत्पश्चात् यदु-पति-नगरी, मथुरा, को गया, जहाँ पर श्री-पति भगवान् ने अपने आत्मीय कंस को, आततायी होने के कारणं, मारा था ॥ २० ॥

तद्यात्रां विधिवत्कृत्वा, यथा-शास्त्रम्, यथा-बलम् ।
अथोज्जयिन्यां यातो द्रष्टुं देवं महेश्वरम् ॥ २१ ॥

अर्थ—उस यात्रा को शास्त्र-विधि के अनुसार एवं जहाँ तक बल-पराक्रम चला, विधिवत्, पूर्ण करके, श्रीदेव-देव, महेश्वर, के दर्शन के निमित्त, उज्जयिनी को प्रस्थान किया ॥ २१ ॥

महा-कालं महा-काल-हरं देवर्षि-पूजितम् ।
दृष्ट्वा-नत्वा च तन्देवं, गतोऽहं सेतु-बन्धनम् ॥ २२ ॥

अर्थ—देवर्षि-गणों से परिपूजित, मृत्युञ्जय, महाकाल, के दर्शन तथा उनको नमस्कार करके, मैंने श्री सेतु-बन्ध-यात्रा को प्रस्थान कर दिया ॥ २२ ॥

यत्र देवो महादेवो, जनानां हितकाम्यया ।
स्थापितः पूजितः साक्षाच्छ्रीरामेण स्वयं मुदा ॥ २३ ॥

यस्य दर्शन-मात्रेण महा-पातक-राशयः ।
शीघ्रमेव विलीयन्ते, सिंह-त्रस्ता गजा इव ॥ २४ ॥

दृष्टोऽर्चितो नतो देवस्ततोऽहं द्वारकामगाम् ।
यत्र क्रीडाङ्करोति स्म देव-देवो जनार्दनः ॥ २५ ॥

अर्थ—जिस सेतु-बन्ध तीर्थ में स्वयं श्री मर्य्यादा पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र ने, मनुष्यों के कल्याण के निमित्त, देवों के स्वामी महादेव जी की, जिनके दर्शन-मात्र से ही महा पातक-पुञ्ज सिंह से डरे हुए हाथी के समान, शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं, स्थापना करके पूजा की थी। मैंने उनके दर्शन, उनकी पूजा, और उन्हें प्रणाम करके, द्वारिका पुरी को प्रस्थान किया, जहाँ श्री देवेश्वर भगवान जनार्दन ने बाल-क्रीडा की थी ॥ २३, २४. २५ ॥

ध्यात्वात्र हरिमभ्यर्च्य, नत्वा चैव पुनः पुनः ।
सर्व-तीर्थ-गुरुं चाथ पुष्करं समगामहं ॥ २६ ॥

अर्थ—यहाँ स्नान करके भगवान की पूजा की; और, वारम्वार नमस्कार करके, सकल तीर्थ स्वामि "पुष्कर" को चल दिया ॥ २६ ॥

तत्र स्नात्वा यममभ्यर्च्य, शिवञ्चैव सुरार्च्चितम् ।
हरिद्वारमथासाद्य, गतोऽहं कृतकृत्यताम् ॥ २७ ॥

अर्थ—वहाँ पर स्नानपूर्वक यम की अभ्यर्चना की, तथा सुर-पूजित श्री शिव की भी पूजा की। तत्पश्चात् श्रीहरिद्वार पहुँच कर कृतकृत्य हो गया ॥ २७ ॥

ततो गङ्गोत्तरीं गत्वा, स्नात्वा-स्तुत्वा हरिं मुदा ।
वदरी-वनमायातो देवर्षि-गण-सेवितम् ॥ २८ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर गंगोत्तरी में जाकर स्नान किया, और ईश्वर की स्तुति-पूजा की और, तब देवर्षि-महर्षियों से पूजित वदरि-वन-तीर्थ की यात्रा की ॥ २८ ॥

तत्र देववरौ देवौ नर-नारायणावुभौ ।
तपौ दुष्करमाकल्पं तेपातेस्य हितायवै ॥ २९ ॥
तौ सम्पूज्य नमस्कृत्य, यातोऽहं नैमिशम्भवम् ।
चक्र-तीर्थेसु संस्नाय, नैमिशेशं समर्च्यं च ॥ ३० ॥

अर्थ—वहाँ देवताओं में श्रेष्ट नर और नारायण, दोनो, संसार के कल्याण के निमित्त आकल्प दुष्कर तपश्चर्य्या कर रहे हैं। मैंने उन दोनों देवों को प्रणाम करके पूजा की, और नैमिशारण्य को चल दिया। वहाँ श्रीचक्र-तीर्थ में स्नान करके नैमिशेश्वर की पूजार्चा की; तथा आगे वढ़ा ॥ २९, ३० ॥

तत्र सूतं समासीनं शौनकादीन्टषींस्तथा ।
दृष्ट्वा नत्वाथ संशान्ताञ्जाताल्हादो भवन्तदा ॥ ३१ ॥

अर्थ—वहाँ सूत और शौनिकादि ऋषियों को अत्यन्त शान्ति-वृत्ति युक्त आसनासीन देख-कर तथा प्रणाम करके, परमानन्दित हुआ ॥ ३१ ॥

एवं क्रमेणागतवानयोध्यां, यत्राविरासीत् किल विष्णुराद्यः ।
स्नात्वाथ नद्यां हरि-नेत्र-जायां, कृता च यात्रा विधिवत्तदीया ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस क्रम से, हे स्वामिन्! अव मैं अयोध्या पहुँचा, जहाँ पर स्वयं विष्णु भगवान् ने, श्री रामादि रूप में, जन्म ग्रहण किया था। तदनन्तर भगवान के नयन से उत्पन्न होने वाली नदी, सरयू, में स्नान-ध्यान किया, तथा वहाँ की समस्त यात्रा समाप्त कर दी ॥ ३२ ॥

ततो भवद्दर्शन-लालसोहं, प्रसंस्थितः सम्मुख एव काश्याः ।
पुर्य्याः शिवस्याखिल-सत्व-भोक्तू-र्ब्रह्मादिदेवैरभिवन्दितायाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—तव वहाँ से, हे स्वामिन्! आपके शुभ-दर्शन के लिये उत्कण्ठित होकर, मैंने ब्रह्मादि श्रेष्ठ-द्वारा अभिवन्दित, सबको मुक्ति देनेवाली शिवजी की पुरी, काशी, की ओर प्रस्थान किया ॥ ३३ ॥

अध्वन्यथा श्रौषमहं किलैष्यन्, वृत्तं जनैरीरितमध्व-संस्थैः ।
रथ्या-सभा-राज-पथापणस्थै-रतीव कौतुहल-युक्तचितैः ॥ ३४ ॥

अर्थ—मार्ग में आते हुए, मैंने पथावस्थित राज मार्ग(१) के यात्रियों, और बाज़ार के लोगों को अत्यन्त-प्रसन्नता से यह सुन्दर कथा कहते हुए सुना—॥ ३४ ॥

इतो विदूरे किल धेनुमत्यां, ग्रामोस्ति कश्चिद्यमदिग्विभागे ।
घण्टा-पथात्पश्चिम-देश-वर्त्ती, दासोत्तरो राम-गढ़ाभिधानः ॥ ३५ ॥

अर्थ—यहाँ से थोड़ी दूर पर, इस घण्टा पथ*के पश्चिम ओर, गोमती-नदी के दक्षिण-तट पर, एक दासोत्तर "राम-गढ़" नामक ग्राम है ॥ ३५ ॥

तत्रास्ति तीर्थं किल "कोटि"—संज्ञितं, श्री धेनुमत्यां परमम्पवित्रम् ।
तत्तीर्थ-मध्यात्खलु मूर्ति-युग्मम्, निस्सारितं भिक्षु-वरेण चाद्य ॥३६॥
केनापि लोकाघ-विनाश-दक्षं, दयालुना पर्य्यटता महीमिमाम्।
श्रुत्वेति वृत्तं जनता-मुखाद्वै, तत्रागतोऽतीवकुतूहलाढ्यः ॥ ३७ ॥

अर्थ—वहाँ गोमती में "श्री कोटि-तीर्थ" नामी परम-पवित्र-तीर्थस्नान है। उस तीर्थ से किसी संसार के पापों का विनाश करने में दक्ष दयालु परिव्राजक, सन्यासी-द्वारा दो मूर्तियाँ निस्सारित हुई हैं। जनता के मुख से यह समाचार सुनकर, मैं अत्यन्त कुतूहलान्वित हो वहाँ गया ॥ ३६, ३७ ॥

प्राप्याथ तत्तीर्थ- वरं विशुद्धम्, कोट्यं हसां प्राग्जनिसम्भृतानाम् ।
समीक्षण-स्पर्शन-पान-मज्जैः, प्रणाशनं संसरतां जनानाम् ॥ ३८ ॥
प्रक्षाल्य पादौ कृत-हस्त-शौचः, समाविशन्तीर्थ-वरेऽतिपूते ।
ममज्ज तस्मिन्किल कोटि-तीर्थे, ध्यायन्परम्ब्रह्म-जगद्विवर्त्तनम् ॥३९॥

---

(१) राजा की बनवाई हुई सड़क को राज-पथ कहते हैं।

* जिस मार्ग पर घण्टे बजते हों। यथा पक्की सड़क। ३४, ३६, ३७ एषु श्लोकेषु बहुषु पादेषु वर्णा वैपरीत्यादन्यथा कलं तल्लन्तव्यंकतो न व्यक्ततरेषां। स्वामी जी।

अर्थ—जब मैं सांसारिक-प्राणियां के पूर्व- जन्म के अनेकों पापों को, एकही बार के दर्शन-स्पर्शन-पान और मज्जन से, नाश करने वाले विशुद्ध तीर्थ-स्थल को प्राप्त हुआ, तो हाथ पाँव धोकर और शौच क्रिया से निवृत्त होकर, उस पवित्र-तीर्थ में प्रवेश किया; और श्री-कोटि तीर्थ में स्नान करके संसार के विकट जाल से उन्मुक्त करनेवाले परम ब्रह्म परमात्मा का ध्यानार्चन करने लगा ॥३८,३९॥

उत्तीर्य तस्मात्कृत-मज्जनोऽहं, धृत्वा च वस्त्रं मुनि-धार्य्यमग्र्यम् ।
उपास्य तीरेतिविशुद्धि-युक्ते, जजाप तारं ननु वेद-सारम् ॥ ४० ॥

अर्थ—उसमें से निकल कर मैंने मुनियों के धारण करने योग्य उत्तम वस्त्र को धारण किया, और विशुद्ध हृदय होकर तट पर बैठ गया, तथा वेद-सार-मन्त्र "प्रणव" (ओ३म्) का उच्चःस्वर से जाप करने लगा ॥ ४० ॥

ततः समुत्थाय जलं गृहीत्वा, पुष्पाणि शस्तानि वनोद्भवानि ।
श्रीमत्तुलस्याः किल कोमलानि दलानि चादाय समुत्सुकोऽहं ॥ ४१ ॥
विल्वस्य पत्राणि शिव-प्रियाणि वै, पुष्पाणि धत्तूर-दिनेशजानि च ।
ततस्समभ्यर्च्य शिवं शिवा-प्रियं, श्रीदुग्ध-नाथं जगतां सुशंकरम् ॥४२॥

अर्थ—वहाँ से उठकर अत्यन्तोत्सुक-चित सुन्दर-सुन्दर वनैले फूलों, कोमल-कोमल तुलसी पत्रों, शिवजी के प्यारे धतूर एवं मन्दार के पुष्पों, और वेल पत्रों के साथ जल लेकर, उमा-प्रिय, शिव एवं जगत्कल्याणकारी श्री दुग्धनाथ की पूजा की ॥ ४१, ४२ ॥

अगाञ्च देवालयमद्भुतं महत्, तद्दर्शनार्थी च तदेक-मानसः ।
कृत्वाथ पूजां विधिवद्विधि-प्रियो, नत्वा च देवौ सुमना बभूव ॥४३॥

अर्थ—फिर उस विचित्र देव-मन्दिर में, उन्हीं के दर्शनों का एकमात्र अभिलाषी होकर, अन्य सभी व्यग्रताओं को चित्त से निकालकर, उन्हीं के चरणों में ध्यान लगाकर, पहुँचा । और मुझे विधि अत्यन्त प्रिय है, इस लिये उनकी पूजा भी विधि-पूर्वक करके सुप्रन्त हो गया ॥ ४३ ॥

तद्दर्शनाल्हाद-परिप्लुतात्मको, रोमाञ्च-वर्ष्मा परिविस्मृताखिलः ।
ततस्समाधाय मनो मनीषया, जनानपृच्छं निकटे निवासिनः ॥ ४४ ॥

अर्थ—उनके दर्शन से मेरा हृदय भर आया, रोमाञ्चित होगया, तथा शरीर की समस्त सुध-बुध भूल गई । उनका यथा बुद्धि ध्यान करके मैंने समीपस्थ मनुष्यों से पूछा—॥ ४४ ॥

केनेदं मूर्त्ति-युग्मं संस्थापितं हीद्धशोभं,
कस्मिन्काले किं चास्य दर्शेऽस्ति पुण्यम् ।
किं तीर्थं किं महत्वं चास्य प्रभावं किमस्ती–
त्येतत्सर्वं भवन्तो मह्यं स्फुटं वै ब्रुवन्तु ॥ ४५ ॥

अर्थ—"इन दोनों सुशोभन मुर्त्तियों को किसने और किस समय स्थापित किया ? यह कौन तीर्थ है ? तथा इसका क्या महत्व और प्रभाव है ? एवं इन मूर्त्तियों के दर्शन-पूजन से क्या पुण्य होते हैं ? आप लोग इन मेरे प्रश्नों का स्पष्ट उत्तर देने की कृपा कीजिये ।" ॥ ४५ ॥

इति सम्पृष्टसम्प्रश्ना मया ते ग्रामवासिनः ।
ऊचुः प्राञ्जलयस्सर्वे, भक्त्या संनत-कन्धराः ॥४६ ॥

अर्थ—जब मैं ने उन ग्राम-निवासियों से इस प्रकार के प्रश्न किये, तो उन्होंने श्रद्धा-युक्त शिर नवाकर और हाथ जोड़कर उत्तर दिया—॥ ४६ ॥

ग्राम्या ऊचुः ।

स्वामिन्नत्रागतः कश्चिच्छ्रीकाश्या न्यासिनाम्वरः ।
गोमत्या वारि-मध्याद्धि तेन निस्सारितं प्रभो ॥ ४७ ॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! यहां पर एक सन्यासी श्रीकाशी जी से आये थे। हे प्रभो ! उन्हीं महात्मा जी ने इन मूर्त्ति-युग्मों को निकाला है। ॥ ४७ ॥

मूर्त्ति-युग्मं महाबुद्धे ! जनानां हित-काम्यया ।
इति जानीमहे विद्वन्नान्यत्किञ्चिदितः परम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—हे महाबुद्धे ! इतनाहीं जानते हैं कि उन्हीं महात्माजी ने, मनुष्यों के हितार्थ, इन दोनों मूर्त्तियों को निकाला है। इससे अधिक और कुछ नहीं जानते। ॥ ४८ ॥

इतिश्रुत्वा वचस्तेषां, कौतुकाविष्ट-मानसः ।
भवदन्तिकमायातः श्रोतुकामो भवन्मुखात् ॥ ४९ ॥

अर्थ—उनकी ऐसी बातें सुनकर मैं अत्यन्त कौतूहलान्वित हो गया; और आपके मुखसे यथार्थ वार्त्ता श्रवणार्थ आपके सन्निकट आया हूँ। ॥ ४६ ॥

केन ते कारिते मूर्त्ती ? केन संस्थापिते विभो ?
कदा ? केन च गोमत्यां पातिते ? केन हेतुना ? ॥ ५० ॥

अर्थ—हे स्वामिन् ! तो, अब, कृपया मुझे यह बतलाइये कि किसने उन मूर्त्तियों को बनवाया ? किसने स्थापित किया ? कब, किसने, किस कारण से उन्हें गोमती में गिरवा दिया ? ॥ ५० ॥

कियत्कालं स्थिते तत्र ? कदा, केन, कथं, गुरो ! ।
निस्सारितेस्ततः किं विद्वन् ! फलं दर्शनतस्तयोः ? ॥ ५१ ॥

अर्थ—हे गुरो ! ये मूर्तियाँ कितने समय तक गोमती में रहीं ? कब, किसने और किस प्रकार इन्हें निकाला ? और, हे विद्वन् ! इन दोनों के दर्शन से क्या फल प्राप्त होते हैं ? ॥ ५१ ॥

एतत्कृपालो ! कृपया विधीयतां तत्रत्य-वृत्तं निखिलं हिताय मे ।
श्रुत्वा भवद्वक्त्र-सरोज-निर्गतं, स्यां वै कृतार्थो महदर्थवद्वचः ॥ ५२ ॥

अर्थ—हे कृपा-सागर ! अनुग्रह-पूर्वक, हमारे हित के निमित्त, इन सब कथाओं को कहिये। मैं आप के मुख-कमल से महदर्थवद्वचन सुनकर कृत-कृत्य हो जाऊँगा ॥ ५२ ॥

अचलानन्द उवाच ।

श्रुत्वा विनेयोक्तमथोमहामना स्तस्मै सहोवाच कथां पुरातनीम् ।
यज्ञांजनीजात-सु-कोटितीर्थगां, संजातहर्षो जगतां हिताय वै ॥ ५३ ॥

अर्थ—उन काशीस्थ परमविद् महात्मा ने, अपने शिष्य की ऐसी विनम्र विनय सुनकर, संसार का भला विचारते हुए, हर्षोत्फुल्ल मन से श्रीमद्य-वराह और हनुमानजी की श्री कोटि-तीर्थ-सम्बन्धी-कथा कहनी प्रारम्भ की ॥ ५३ ॥

इति श्रीमदचलानन्द-स्वामि-विरचिते श्रीमद्वराह-चरित्रे तीर्थ-यात्रा वर्णन-पूर्वक शिष्य-प्रश्नो नाम प्रथमस्सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार पहला सर्ग समाप्त हुआ ।

द्वितीयः सर्गः ।

श्रीगुरुरुवाच ।

ब्रह्म-विष्णु-महेशान्वै सर्गस्थित्यन्तकारिणः ।
अज्ञानध्वान्त–भानूंश्च सद्‌गुरून्सततं नुमः ॥ १ ॥

अर्थ—श्री गुरुजी ने कहा—इस सृष्टि के उत्पन्न करनेवाले, पालन करनेवाले तथा नष्ट करने वाले ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपधारी ईश्वर को, तथा अज्ञान-रूप-अन्धकार का विच्छेदन करने वाले सद्‌गुरु-सूर्यस्वरूप को हम सब प्रणाम करते हैं ॥ १ ॥

सम्यक्पृष्टं त्वया वत्स ! रसज्ञोसि कथा-श्रवे ।
तत्तेऽहमभिधास्यामि कथां भुवन-पाविनीम् ॥ २ ॥

अर्थ—हे वत्स ! तुमने बहुत ही ठीक पूछा है; कथा सुनने में तुम बड़े रसज्ञ हो । अतएव मैं भी संसार-पावनी कथा कहता हूं ॥ २ ॥

इतिहास-पुराणाभ्यां सद्‌गुरोर्मुख-पङ्कजात् ।
यथा-श्रुतं यथा–बुद्धं, यथा बुद्धेर्हि वैभवम् ॥ ३ ॥
तथा ते सर्व–वृत्तान्तं, कथयामि पुरातनम् ।
पुराविदां प्रमोदाय, तव संशय–नुत्तये ॥ ४ ॥

अर्थ-- जैसा इतिहास-पुराणों से तथा जैसा सद्‌गुरुओं के मुख-कमल से सुना गया है, जहाँ तक ज्ञान है और जितनी हमारी बुद्धि-प्रतिभा है, वहाँ तक मैं सब-पुरातन वृत्तान्त, पुरा-तत्व-वेत्ताओं के प्रमोद के लिये और तुम्हारे भ्रमोच्छेद के लिये, कहता हूँ ॥ ३, ४ ॥

कथारम्भः ।

श्रीकाश्या उत्तरे भागे, क्रोशाष्टक-मिते शुभे ।
गोमत्या दक्षिणे कुले, देशे परम-पावने ॥ ५ ॥
राजधानी वभूवादौ, युगे कृत-युगे शुभे ।
प्रतर्दनस्य राजर्षेर्देवोदासात्मजस्य वै ॥ ६ ॥

अर्थ--श्रीशिव-पुरी, काशी, के आठ कोश उत्तर भाग में, श्री गोमती-नदी के दक्षिण-तट पर उस परम-पावन देश में, सतयुग में, श्री राजर्षि देवोदास के पुत्र, प्रतर्दन, की राजधानी थी ॥ ५, ६ ॥

तत्र राज्यं चकारासौ वहुवर्ष-सहस्रकम् ।
यच्छन्प्रजाः स्व-धर्मेषु नियच्छन्पापकारिणः ॥ ७ ॥

अर्थ—वहाँ पर उस प्रतर्दन राजा ने सहस्रों वर्ष तक, अपनी प्रजावों को स्वधर्म-निरत और दुष्कृतियों को दण्ड देता हुआ, राज्य किया ॥ ७ ॥

स वभूव सतांसेव्यो हिमवानद्रिराडिव ।
द्विषतां विपरीतोऽभूदुष्णगु ग्रीष्मगो यथा ॥ ८ ॥

अर्थ—वह सज्जन-सेव्य-राजा, पर्वत-श्रेष्ठ हिमालय के समान, अर्थात् सब राजाओं का राज-राजेश्वर, हुआ । और अपने वैरियों को तो ग्रीष्म-कालीन प्रखर-सूर्य्य की नाईं दुख-दायी था ॥८॥

प्रजाल्हादे च शीतांशुः प्रतापे हव्य-वाडिव ।
कोशे यक्षेश्वरः साक्षाद्दाने वलिरिवापरः ॥ ९ ॥

अर्थ--वह राजा प्रजावों को तो:आनन्द-प्रदान में पूर्णनिशानाथ शशि के समान शीतल था; किन्तु प्रबल-प्रताप में यज्ञ-हव्य-ग्राही उद्दीप्ताग्नि के सदृश प्रतिभावान् था । उसका धन-कोश तो मानो यक्ष-राज, कुबेर, ही का कोश था; और दान देने में तो मानो वह साक्षात् दूसरा वलि ही था॥९॥

स स्नाति स्म महीपालो गोमत्यां कोटि-तीर्थके ।
माहात्म्यं कथितं यस्य व्यासेन भारते स्फुटम् ॥ १० ॥

अर्थ--वह महाराज महामुनि व्यासकृत महाभारत-कथित माहात्म्य-धारी श्री कोटि-तीर्थ में नित्यशः स्नान किया करता था ॥ १० ॥

ततस्तदभिषेकेण न-चिराच्छुद्ध-मानसः ।
पुरन्दरोपदेशेन पदं प्रापाति-दुर्लभं ॥ ११ ॥

अर्थ--इस प्रकार बहुत शीघ्रही उस शुद्ध-हृदय राजा को, वहाँ पर स्नान करने तथा इन्द्र के उपदेश से, अति दुर्लभ-पद प्राप्त हो गया ॥११॥

तदन्वये बभूवाथ राजा द्वाभ्यां परे युगे ।
सर्वसेन इति ख्यातो धनुर्विद्या-विशारदः ॥ १२ ॥

अर्थ—यथानुक्रम उसके वंश में, द्वापर युग में, "सर्व-सेन" नाम का धनुर्वेद-विचक्षण महाप्रतापी राजा हुआ ॥ १२ ॥

स राज्यमकरोत्तत्र प्रभूत-बल-बाहनः ।
कोटि-तीर्थे कृतावश्यः स्वपुरोहित-पूर्वकः ॥ १३ ॥

अर्थ—उस राजा ने प्रचुर-धन-वाहन-युक्त, अपने आवश्यक मन्त्रियों और पुरोहितों समेत, उस कोटि-तीर्थ में, बहुत दिनों तक राज्य किया ॥ १३ ॥

एवं राज्यं शासता तत्समीपे ज्ञात्वा तीरं धेनुमत्यास्तु रम्यम् ।
देव-स्थानं कारितं तत्र-शुभ्रम्, मूर्त्ति-द्वन्द्वं स्थापितं तेन तस्मिन् ॥१४॥

अर्थ—इस प्रकार राज्य शासन करता हुआ, उसने श्रीगोमती का सुरम्य-तट जानकर, उसी के समीप, देवालय निर्माण करवा कर इन दोनों मूर्त्तियों को उस में स्थापित करवाया ॥ १४ ॥

तत्रैका श्रीवराहस्य मूर्त्तिर्भक्त-जनेष्टदा ।
अपरा राम-दूतस्य वात-जातस्य धीमतः ॥ १५ ॥
स्थापयित्वा यथा-शास्त्रं, मूर्त्ति-युग्मं सभूमिपः ।
विधाय विधिवत्पूजां चकार विप्र-भोजनम् ॥ १६ ॥

अर्थ—इन में से एक भक्त-जनों को अभीष्ट-दान करने वाले श्रीयज्ञवराहजी की और दूसरी श्रीरामचन्द्रजी के सेवक, हनुमानजी, की मूर्त्ति स्थापित करके, उस राजा ने शास्त्रानुमोदित पूजा एवं ब्रह्मभोज करवाया ॥ १५ ॥ १६ ॥

सुधान्न-सम्भोजित-विप्र-मुख्यकः, प्रदत्तताम्बूल-सुमुख्य-दक्षिणः ।
ततः श्वपाकान्तकयाचकानपि चकार सर्वान्स तदाप्रयाचकान् ॥ १७ ॥

अर्थ—ब्राह्मणों को अमृतदन्न भोजन करा कर मुखशुद्ध्यर्थ पान बीड़ा और यथानुक्रम दान-दक्षिणा दी गई । तत्पश्चात् नीच-जाति के याचकों को भी दान देकर अयाचक कर दिया गया । अर्थात् उनको इतना धन दान दिया गया कि अब उन्हें और याचने की आवश्यकता ही न रही ॥ १७ ॥

विप्र-वर्य्यैः कृतानुज्ञः स तु राजर्षि-सत्तमः ।
साभिलाषोशनायाथ संध्यामकृत-पश्चिमाम् ॥ १८ ॥

अर्थ—वह राजर्षि सत्तम, महाराज सर्वसेन, पण्डित-वर्य्यों से आज्ञा पाकर, भोजन की इच्छा से, पश्चिम मुख बैठकर सन्ध्योपासन करने लगा ॥ १८ ॥

समाप्य सन्ध्यां स समाहितात्मा, संभोजनीयैः स्व-जनैश्च सार्द्धम् ।
सुधोपमं षड्रस-संयुतं द्रश्चतुर्विधं*सम्बुभुजे सदन्नम् ॥१६॥

अर्थ—उस सावधान-हृदय राजा ने, सन्ध्योपासन समाप्त करके अपने सम्भोजनीय सगोतियों सहित, चार प्रकार का षड्रस भोजन किया ॥१६॥

आचम्य सलिलं सम्यक् सुधा-स्पर्द्धि प्रगृह्यच ।
ताम्बूलादि नरेशार्हं विवेश शयनोत्तमम् ॥ २० ॥

अर्थ—अमृत-समान जल लेकर तब उसने भली प्रकार से आचमन किया, और राजा के योग्य पान इत्यादि लेकर शयन करने चला गया ॥ २० ॥

धौत-पादोथ सुष्वाप कृतकार्य्यः प्रसन्नधीः ।
सुषुप्तः शुशुभे सम्राट् सुप्तमीन इव ह्रदः ॥ २१ ॥

---

* भोजन चार प्रकार का होता है ।—(१) भक्ष्य, (२) भोज्य, (३) लेह्य, और (४) चोष्य ।

अर्थ—इसके अनन्तर उस सफल—मनोरथ हृष्ट-मना राजर्षि ने, पाद-प्रक्षालन करके, शयन किया। शय्या पर वह ठीक कासार-सुप्ता मछली के समान निश्चिन्त सोया हुआ शोभित होने लगा ॥ २१ ॥

अथ ब्राह्मे मुहूर्त्तेऽसौ समुत्थाय समाहितः ।
संस्पृष्ट-सलिलः श्रीमान्ध्यात्वा ब्रह्म-सनातनम् ॥ २२ ॥
देह-शुद्धिं विधायादौ स-पुरोहित-सेवकः ।
आरुह्य शिविकां शुभ्रां मज्जनाय जगाम सः ॥ २३ ॥

अर्थ—अब उस सज्जन राजा ने ब्रह्म-वेला में (अत्यन्त तड़के) उठकर, जल से आचमन-पूर्वक शुद्ध होकर, सनातन ब्रह्म—सर्व-पिता-परमात्मा —का ध्यान किया। और, तब अपने पुरोहितों तथा सेवकों को सङ्ग लेकर, शुभ्र शिविका (पालकी) में चढ़ कर स्नानार्थ चला ॥ २२ ॥ २३ ॥

विधाय विधिवत्स्नानं कोटि-तीर्थे समाहितः ।
शुक्लाम्वरः कृतोत्सन्ध्यो देवार्चनमना ह्यभूत् ॥ २४ ॥

अर्थ—कोटि-तीर्थ में विधि-पूर्वक स्नान करके और स्वच्छ-वस्त्र धारण करके, तथा सन्ध्योपासन से निवृत होकर, वह राजा देव-पूजा का विचार करने लगा ॥ २४ ॥

अर्चार्हाणि समादाय द्रव्याणि विविधानि सः ।
सार्द्धं पुरोधस्स्वीयै र्जगाम हरि-मन्दिरम् ॥ २५ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् अपने पुरोहितों के साथ नाना-प्रकार की पूजा—सामग्री लिये हुए वह देवालय को गया ॥ २५ ॥

तदा दुन्दुभयो नेदुः शङ्ख-भेर्य्यश्च जघ्निरे ।
ननृतु र्वारमुख्याश्च गायका यूथशो जगुः ॥ २६ ॥

अर्थ—तब वहाँ पर दुन्दुभी बजने लगे, तथा शङ्ख-भेरी-इत्यादि वाद्यों के मधुर-स्वर श्रुत होने, और मङ्गलामुखी तथा गायक-गण यूथ बाँध-बाँध कर नाचने और गान करने लगे ॥ २६ ॥

विधाय पूजां विधिवद्विधिज्ञः प्रदक्षिणां देववरस्य दत्त्वा ।
नत्वाङ्घ्रि-पद्मं परमस्य पुंस-स्तुष्टाव तुष्टः स हि देव-देवम् ॥२७॥

अर्थ—इस प्रकार उस विधिज्ञ राजा, सर्वसेन, ने विधिवत् पूजा की, तथा उन देव-श्रेष्ठ की परिक्रमा की। एवं उन परम पुरुष, श्रीमद्यज्ञवराहजी, के चरण-कमलों को नमस्कार करके, प्रसन्न हृदय होकर, स्तुति-पाठ करने लगा—॥ २७ ॥

राजोवाच ।

अग्रे स्टष्टेर्यो ह्यय एकः स्वयमासी-
त्स्टष्ट्वाचाथ स्वात्म-निशक्त्या जगदेतत् ।
तत्राविश्य क्रीडति चासावथ यस्तं
वन्दे देवं यज्ञवराहं परिपूर्णम् ॥ २८ ॥

अर्थ—सृष्टि के प्रथम जो अकेला ही था; जिसने अपनी आत्मशक्ति से इस प्रशस्त भुवन-मण्डल की सृष्टि की, और जो फिर इस में प्रवेश कर के नाना-भाँति की क्रीयायँ करता है,मैं उस पूर्ण-रूप श्रीमद्यज्ञवराह देव की स्तुति करता हूँ।॥ २८ ॥

क्रीडित्वेत्थं यः शयनार्थी पुनरंते संहृत्येदं सर्वमशेषं सविशेषम् ।
शेषे शेषे त्वं महिमाख्ये निज-रुपे तंत्वा वन्दे यज्ञवराहं गतमायम्॥२९॥

अर्थ—इस प्रकार से क्रीड़ा करने के पश्चात् जो देव, शयन की इच्छा से, इन सम्पूर्ण प्रपंचों का विशेष रूप से संहार करता और अन्त में, अपने ही रूप में, "शेष-नाग" की शय्या पर सोता है, उस माया-रहित यज्ञवराह-देव की हम वन्दना करते हैं।॥ २९ ॥

सुप्तः क्षीराब्धावरविन्दं तव नाभौ जातं तत्रासीच्चतुरास्यो जगदादिः ।
तस्मै वेदान्यः प्रहिणोति स्वयमादौ तं सर्वज्ञं यज्ञवराहं प्रणतोऽस्मि ॥३०॥

अर्थ—क्षीर-सागर में शयन करते समय जिनके नाभी से कमल और उससे लोक-पिता, ब्रह्मा, की सृष्टि हुई; तथा जिन्होंने उनके लिये वेद-प्रणयन किया, उन सर्वज्ञाता श्रीमद्यज्ञवराह देव की मैं वन्दना करता हूँ ॥ ३० ॥

धात्रा स्टष्ट्वा भूर्यदि सृष्टिं सृजता के मग्ना सासीत्तां स तदेच्य प्रभुमाद्यम् ।
ध्यायन्नास्ते यं सहपुत्रै र्गतमानोऽहं तं मेशं यज्ञवराहं प्रणतोऽस्मि ॥३१॥

अर्थ—ब्रह्माजी ने पहले पृथिवी बनाई; और जब और सृष्टि बनाने लगे, तो पृथ्वी जल में डूब गई। पृथ्वी को इस प्रकार जल में डूबी हुई देख कर, उसके उद्धार के लिए, ब्रह्माजीने, अपने नारदादि पुत्रों सहित, जिस लक्ष्मी-पति की स्तुति की थी, मैं उन्हीं यज्ञ-वराहजी को विनम्र-भाव से प्रणाम करता हूँ ॥ ३१ ॥

ध्यातस्त्वेवं प्रादुरभूद्यो विधिनस्तो दृष्ट्वेत्यूचु र्ह्यागतशङ्का यमतज्ज्ञाः ।
कस्मात्कोऽयं तेऽनिमिषाः सूकर-शावं तं सर्वेशं यज्ञवराहं प्रणतोऽस्मि ॥३२॥

अर्थ—देवतावों के इस प्रकार विधि-पूर्वक स्तुति करने पर जब वह (ईश्वर) प्रादुर्भूत हुआ, तो उसका ठीक स्वरूप न पहचान कर देवतावों के मन में यह शंका उत्पन्न हुई कि यह सूअर का बच्चा कौन है, और कहाँ से आया? ऐसे (सूअर के बच्चे) यज्ञ-वराहजी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ३२ ॥

इत्थं तर्के वेधसि साकं क्रियमाणे देवैर्जातो यो गिरिराजोपमधारी ।
कृत्वा नादं घर्घरितं यस्त्वविशद्रास्तं चोणीशं यज्ञवराहं प्रणतोऽस्मि ॥३३॥

अर्थ—जब देवतावों के साथ ब्रह्माजी ने ऐसा सोचा तो जो (ईश्वर) हिमालय पर्वत के समान विशाल शरीर धारण करके उत्पन्न हुआ, और "घों—घों" (सूअर की तरह) शब्द करके शेष नाग के पास चलागया,—उस पृथ्वी-पति यज्ञ-वराह को मैं प्रणाम करता हूं ॥ ३३ ॥

चुक्रोशाऽब्धि र्यस्य नखाग्रैः चतवारिः कृत्वं गज्या मेशरमेशावहमेति ।
धृत्वोन्निन्ये यश्च ददग्रेऽब्धि-निमग्नां गां तं सद्मं यज्ञवराहं प्रणतोऽस्मि ॥३४॥

अर्थ—जब यह (सूअर का बच्चा) अपने तेज़ नखों से समुद्र के पानी को चीरने-फाड़ने लगा, तो समुद्र चिल्ला उठा, और उस में से गाज और फेन, इत्यादि, उठने लगा। फिर इस वराह ने समुद्र में डूबी हुई पृथ्वी को उठाकर अपने दाँतों पर रख लिया;—ऐसे बलवान् यज्ञ वराहजी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ३४ ॥

धृत्वायान्तं यं जलधेर्गां दिति-सूनुर्हेमाक्षाख्हानो गतमानो गतमानम् ।
कस्त्वं नोरिः सञ्चितहारी वनचारी चिक्षेपैवं तं क्रतुघृष्टिं प्रणतोऽस्मि ॥ ३५ ॥

अर्थ—इस प्रकार जब वराह जी समुद्र से पृथ्वी को निकाल कर आगे बढ़ रहे थे, तो उन्हें, रास्ते में, हेमाक्ष नामक दितिका पुत्र मिला, और बहुतेरा आक्षेप यों करने लगा कि—अरे शत्रु ! तू कौन है ? तू तो हमारे भोजन के लिए पाला हुआ जंगली ज़ानवर है !—ऐसे यज्ञवराह जी को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ३५ ॥

इत्याक्षिप्तस्तं स्वक-निन्दाक्षत-जीवं
जघ्ने प्रध्ने यो क्षत-वर्ष्मासुर-वर्य्यम् ।
सीध्वन्नानां सूक्तवचोभिः स्तुवतां तं
संशान्तारिं यज्ञवराहं प्रणतोऽस्मि ॥ ३६ ॥

अर्थ— इस प्रकार के आक्षेप करने और ईश्वर की निन्दा करने से स्वयं मृतक दुष्ट दैत्य हिरण्याक्ष को जिस वराह-देव ने, युद्ध में, मार डाला, और तब जिसकी स्तुति देवतावोंने अपने सुन्दर-सुन्दर वचनों से की, उस यज्ञवराहजी को मैं प्रणाम करता हूं ॥ ३६ ॥

हत्वारातिं संहृत-धात्रीं तत एतां
यः संस्थाप्यापामुपरि देवीं निजशक्तिम् ।
आधायास्यां स्वे महिमन्यन्तरधात्तं
मत्स्वान्तस्थं यज्ञवराहं प्रणतोऽस्मि ॥ ३७ ॥

अर्थ—शत्रुको मार कर और उससे अपनी शक्ति-रूपी पृथ्वी का उद्धार करके, जिस वराह देव ने अपनी महिमा-रूपी पानी (समुद्र) के ऊपर उसे स्थापित किया, और फिर अदृश्य होकर भी जो हमारे अन्तः करण में विराजमान् है; उस यज्ञ-वराह को मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ३७ ॥

एतत्स्तोत्रं भक्तजनेष्टं सुमनोज्ञं
प्रातःस्नात्वा यः शुचिचेताः पठिति ज्ञः ।

धर्म्मार्थौ काम-गतिमन्ते लभते तां
यां निर्ध्वान्ता वीत-विमोहा विलभन्ते ॥ ३८ ॥

अर्थ—इस भक्तजनों के लिये प्रिय और सुन्दर स्तोत्र को जोबुद्धिमान् प्रातः काल स्नान करके जपैगा, उसे धर्म और अर्थ तो खूब प्राप्त होगा ही, वह मुक्ति भी प्राप्त होगी जो बड़े-बड़े योगियों को अन्त में मिला करती है ॥ ३८ ॥

श्री गुरुरुवाच ।

इत्थं विधाय स्तुतिमद्भुतैन्दैः श्रीमद्वराहस्य स भूमि-पालकः ।
अस्तौत्ततः सच्छ्रवणीयसत्कथं श्रीमद्धनूमन्तमसह्य-विक्रमम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—इस प्रकार उस राजा ने वराहजी की स्तुति की, और उसके पश्चात् महाप्रतापी, सुन्दर यशवाले हनूमान् जी की स्तुति प्रारम्भ की। ॥ ३९ ॥

राजोवाच ।

स्वजन्म-काल-भक्षित-प्रचण्डकश्यपात्मजम्
महेन्द्र-बज्र-घाततः प्रजात-दीर्घ-तुण्डकम् ।
स्वकीय-भक्त-मानसारविन्द-कोश-षट्पदं
तमाञ्जनेयमार्तिहं प्रणौमि सर्व-कामदम्* ॥ ४० ॥

अर्थ—जिस अञ्जनि-कुमार, हनुमान जी, ने जन्म लेते ही कश्यप के प्रतापी पुत्र, सूर्य्य, का भक्षण कर लिया; सुर-पति, इन्द्र, के बज्र-प्रहार से जिनका तुण्ड (मुँह, थुत्थुन) दीर्घ हो गया; और जो अपने भक्तों के कमल-रूपी-हृदय-कोश के लिए भ्रमर-स्वरूप हैं, उन सकल-कामना-पूर्णकारी वात-पुत्र की मैं बन्दना करता हूँ। ॥ ४० ॥

समीर कोप-भीत-देवजातदत्तसद्वरा-
दवाप्त सर्व-काम-जात-हर्षजात-दर्पकम् ।

---

* चामर छन्द । इसमें क्रमशः लघु-गुरु होते हैं। ६४ वर्णों का चतुष्पाद-छन्द होता है । ऊपर उदाहरण देखिये ।

ऋषि-प्रकोप-दत्त-शाप-विस्मृत-स्व-पौरुषं
सुकण्ठ-मुख्य-मन्त्रिणम्प्रभञ्जनात्मजं भजे ॥ ४१ ॥

अर्थ—पवन देवता के भय से भयभीत अन्य-देवताओं के वर से सम्पूर्ण वैभव-प्राप्त, हर्षाभिमानी, ऋषियों के प्रकोप से अपने वल-विक्रम को विस्मरण कर देने वाले, महाराज सुग्रीव के प्रधान-आमात्य (मन्त्री) श्रीहनुमान की मैं वन्दना करता हूं ॥ ४१ ॥

दिनेश-सूनु-देशतो गृहीत-राम-मुद्रिकं
विदेहजा-प्रवृत्ति-जात-दुःख-खिन्न-मानसम् ।
प्रवुद्ध-वृत्त-ऋक्षराट्-स्तव-प्रवुद्ध-पौरुषं
प्रलंघिताब्धि-निर्भयं प्रवीर-मारुतिं भजे ॥ ४२ ॥

अर्थ—जिस महावीरजी ने, सूर्य्य पुत्र, सुग्रीव, के कहने से श्रीरामचन्द्र की मुद्रिका लेकर, और ऋक्ष-पति, जामवन्त, के पूर्व—समय के देव-प्रदत्तवरों का स्मरण कराने से, निर्भय समुद्रोल्लङ्घन किया; तथा जिनका हृदय वैदेही के दुःखों को देखकर खिन्न हो गया, मैं उनको वन्दना करता हूं ॥ ४२ ॥

प्रदृष्ट-राक्षसेश-वैभव-प्रभाषितावनि—
प्रजं प्रभंजितोरुकाननं प्रमारिताक्षवीरकम् ।
पयोद-नाद-वद्ध-चैल-तैल-सिक्त-पुच्छकं
प्रदग्ध-लङ्क-राम-दत्त-चिन्हकं नभोजजम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—उसी भाँति, राक्षस-पति, रावण, का वल-वैभव देखने-वाले, पृथ्वी की पुत्री, जानकी, से (अशोक-वृक्ष-तले) वार्तालाप करने वाले, रावण के विशाल-उपवन को नष्ट करने वाले, अक्षय-कुमार के संहारक, मेघनाद-कृत व्रह्मास्त्र-वद्ध, वस्त्र और तैल से सिञ्चित-पुच्छ, लंका—दहनकारी एवं श्रीरामचन्द्र से मुद्रिका-प्राप्त वायु-सूनु, हनुमानजी, की मैं स्तुति करता हूं ॥ ४३ ॥

भजे निवद्ध-सेतु-सिन्धु-पारवास-सेनपं
प्रचण्ड-जन्य-कारकं फणीन्द्र-दुःख-हारकम् ।

प्रचण्ड-दैत्य-मारकं मदादि-शत्रु-हारकम्
दिनेश-वंशज-प्रियं सुख-स्वरूप-निष्क्रियम् ॥ ४४ ॥

अर्थ —समुद्र में सेतु बाँधकर अपनी सेना लङ्का में ले जाने वाले धुरन्धर सेनानी, विकट-रण-रङ्ग रचयिता, लक्ष्मण की शक्ति-जनित पीड़ा हरण करने वाले वीर, महा भयानक-दैत्यों का विनाश करने वाले रणधीर, काम-क्रोध-मद-मोहादि षड्रिपुओं के समर में अद्वितीत विजयी जयघोषक, तथा दिन-मणि-कुल-भूषण श्रीरामचन्द्रजी के प्राणाधिक प्रिय सेवक, एवं सहजानन्द-निष्क्रिय हनुमानजी की मैं वन्दना करता हूं। ॥ ४४ ॥

समस्त-शत्रु-नाशकं, समस्त-सौख्य-दायकं
सुदार-पुत्र-वित्तदं, समस्त-पाप-विच्छिदम्।
पठेदिदं हि यः स्तवं प्रभात-काल-उत्थितो
विशुद्ध-देह मानसः स्व-वाञ्छितं लभेत सः ॥४५॥

अर्थ—इस प्रकार जो मनुष्य नित्यशः प्रातः काल उठकर, और शुद्ध मनः—शरीर होकर, समस्त शत्रुओं को विनाश करने वाले, समस्त सुखों—सुत-वित्त-कलत्रादि को देने वाले और सारे पापों का विच्च्छेदन करनेवाले महावीरजी की इस स्तुतिको पढ़ेगा, उसे अपना अभिलषित-फल प्राप्त होवेगा ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्वराह-चरित्रे, भूत-वित्तान्ते, मूर्ति-निर्माण-
स्थापन-पूर्वक--हरि हनुमतोः स्तुतिर्नाम
द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।

तृतीयः सर्गः।

श्रीगुरुरुवाच।

एवं स्तुत्वा जगद्धेतू, देव-देवौ प्रजापतिः।
यानमारुह्य हृष्टात्मा, जगाम सौधमुत्तमम् ॥ १ ॥

अर्थ—राजा ने इस प्रकार संसार के कारण, देवताओं के भी स्वामी, लोक-पति, श्री मद्यज्ञवराह और पवनसुत, महावीर, की स्तुति करके, मन में अत्यन्त प्रसन्न होकर, रथारोहण किया, तथा स्व-वास-स्थान को प्रस्थान कर दिया ॥ १ ॥

इति राजा स धर्मात्मा, धर्म-विद्धर्म-वत्सलः।
चकार प्रत्यहं पूजां जनान्सर्वान्सुशिक्षयन् ॥ २ ॥

अर्थ—इस भाँति वह धर्म-तत्व-वेत्ता, स्व-धर्म-प्रिय, धर्म-व्रत-धारी राजा, अपनी प्रजावों को धार्मिक-शिक्षा-दान करते हुए प्रति-दिन पूजा करता था ॥ २ ॥

प्रतिष्ठिते च तत्र तत्सुमूर्त्ति-युग्मकेऽद्भुते
वभूव तस्य भूभृतोऽखिलं समृद्धिमत्तरम्।
सदेश-कोश-सेवकं प्रभूत-सेन-वाहनं
सुराज्यमिन्दिरापतेः प्रसादतो महात्मनः॥ ३ ॥

अर्थ—वहाँ पर उन दोनों अद्भुत-मूर्त्तियों के संस्थापन करने से उस राजा के राज्य में श्री-पति की कृपा से, देश, कोश, सेवक, वाहन इत्यादि की संवृद्धि होने लगी ॥ ३ ॥

ववर्ष काले भुवनं यथेप्सितं सुधोपमं तद्विषये पुरन्दरः।
ववुश्च वाताः स्वगुणैः सुख-प्रदा मही वभूवाद्भुत-सस्य-संयुता॥ ४ ॥

अर्थ—उस राज्य में, उन मूर्तियों के प्रभाव से, यथा-समय इन्द्र-देव अमृत के समान यथेष्ट जल-वृष्टि करते थे; स्वगुण,शीतल-मन्द-सुगन्ध, से सम्पन्न होकर वायु बहता था, और नाना-विधि के सुन्दर—सुन्दर अन्नों से पृथ्वी परिपूर्ण रहती थी ॥ ४ ॥

सिषिंचुरस्याखिल-सत्व-गोप्तुः पयः प्रपूरैरखिलां धरित्रीम् ।
स्वकान्स्वकान्वत्सतराँल्लिहन्त्यो मुदा हि गावो यवसैः सुतृप्ताः ॥५॥

अर्थ—उस निखिल-तत्व-ज्ञानी, प्रजा-रक्षक राजा की घासादि से ही सन्तृप्त हो जाने वाली गायँ, अपने बछड़ों को छोड़ते समय, इस पृथ्वी को दूध से भर देती थीं । ५ ॥

धरा-धरा धर्म-धुरन्धरस्य सदा मणीन्विभ्रतितूद्गतान्स्म ।
प्रफुल्ल-कञ्जा गत-पङ्कतीराः प्रसन्न-नीराश्च वहन्ति नद्यः ॥ ६ ॥

अर्थ—उस धर्म-धुर-धारी राजा के राज्य के समस्त पर्वत मणियों को धारण करते थे, और समस्त नद प्रफुटित कमलों से, पंक-रहित होकर, परिपूर्ण रहते थे; एवं उन में स्वच्छ जल-धारा प्रवाहित हुआ करती थी ।॥ ६ ॥

सरांसि सर्वाणि सपङ्कजानि विकर्दमान्यच्छजलानि चासान् ।
तडाग-पाप्यश्च सपुष्कररायो विपङ्क-तोयाश्च सपङ्कजाश्च ॥७॥

अर्थ—उस राज्य के समग्र सरोवर, तड़ाग, बावली और वहाँ की सारी पोखरियाँ कमल-वन-प्रछन्न तथा पंक-रहित निर्मल जल से परिपूर्ण थीं ॥ ७ ॥

पयोनिधी रत्न-समूहमाशु वहिः क्षिपत्येष निजोर्मि-हस्तैः ।
प्रदातुकामो महते जनाय पितेव पुत्राय दयालु-मुख्याः ॥ ८ ॥

अर्थ—उस राज्य में, दयालु पिता जैसे अपने पुत्र को, विभव-सम्पन्न करने की इच्छा से, सम्पत्ति-प्रदान करता है, उसी प्रकार रत्नाकर (समुद्र), अपने तरङ्ग-रूपी हाथों से, रत्न-समुदाय देता था ॥ ८ ॥

न कश्चिदादत्त हि रत्न-वृन्दं जनः स्वं-वृत्यैव समाप्त-कामाः ।
चकार खेलां पशु-पाल-बालः स-रत्नवृन्दैः किल तस्य राज्ये ॥९॥

अर्थ—उस न्याय-प्रतिष्ठित शासन में लोग अपने ही वैभव से ऐसे सम्पन्न थे कि कोई भी किसी के रत्न-समूहों को लेने की इच्छा न करता था,—यहाँ तक कि पशुरक्षकों के पुत्र (अहीरों के छोकरे) उन रत्नों से खेल खेला करते थे ॥ ९ ॥

एवं प्रभावो हि महीभृदेष चकार राज्यं परिरञ्जयन्नॄन् ।
युगे तृतीये परिवर्त्तमाने कृतं चकार स्व-कृतेन राजा ॥ १० ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रभावान्वित हो, मनुष्यों (अपनी प्रजाओं) को आनन्द देते हुए उस प्रताप-शाली राजा, सर्व-सेन, ने तृतीय युग (द्वापर) को अपने सत्कार्यों से सत-युग कर दिया ॥ १० ॥

विद्वज्जन सुसत्कारीन्यक्कारी द्विषतामसौ ।
महेन्द्र इव दुर्धर्षस्तेजस्वी हव्यवाडिव ॥ ११ ॥
खल-शंयमने साक्षाद्यमः शंयमनीपतिः ।
दस्यु-निग्रह कर्त्तावै रावणो यथा मूर्त्तिमान् ॥ १२ ॥

अर्थ—वह राजा सज्जनों का सत्कार करने वाला, शत्रुओं का नाश करने वाला, इन्द्र के तुल्य अदमनीय और हव्यग्राही अग्नि के समान तेजस्वी; खलों का निधन करने में मानो स्वयं यम ही था, और दस्यु-दमन (चौर-दण्ड) में साक्षाद्रावण के सदृश उत्पन्न हुआ था ॥ ११, १२ ॥

गुप्तार्थे गुप्तचारश्च वरुणो भगवान् यथा ।
सदा गतिरिवां तस्थो यक्षराडिवकोशभृत् ॥ १३ ॥

अर्थ—वे गुप्त धन और गुप्त-चर रखने में तो साक्षात् वरुण भगवान ही के समान थे; सब के हृदय की बात जानने में वायुवत्, तथा धन-कोश-रक्षण में यक्षेश्वर, कुवेर, के समान थे ॥ १३ ॥

प्रसादे विश्वसृट् साक्षात्सूर्यः संतपतामिह ।
सौम्यः सोम इवाभाति क्षमया पृथिवी समः ॥ १४ ॥

अर्थ—और वे प्रसाद-करण में (अन्यों को प्रसन्न करने में) जगत्पति, तेज में सूर्य्य के तुल्य, सुन्दरता में चन्द्रमा के समान तथा क्षमा-धारणा में पृथ्वी के समान थे ॥ १४ ॥

प्राणने प्रीणने चासौ साक्षाज्जलमिवापरम् ।
सुहृदां पावने चैव, दुर्हृदां शोषणे तथा ॥ १५ ॥
वातो वाह्य भवत्साक्षाद्रोषे रुद्र इवापरः ।
दण्ड-नीतौ सितः साक्षाद्ब्रह्मवादे बृहस्पतिः ॥ १६ ॥

अर्थ—जिलाने और रक्षा करने में दूसरे जल-देव; सज्जनों को पवित्र करने तथा दुष्कृतियों के सुखाने में वायु और क्रोध करने में साक्षात् रुद्र भगवान्, नीति में शुक्र एवं ब्रह्म-निरूपण में मानो महात्मा बृहस्पति ही थे ॥ १५, १६ ॥

इत्थं राज्ये प्रचुर-विभवे पाल्यमाने च राज्ञा
स्वे-स्वे-धर्मे श्रुति-सुविहिते वर्त्तमाने जने वै ।
गीर्वाणेशैर्दशयुगभुवने शास्यमाने यथार्हं
काले-काले कुसुम-फलके गृह्य-माणेऽगजातौ ॥ १७ ॥

अर्थ—इस प्रकार के विभव-सम्पन्न राज्य में सब लोग अपने-अपने वेद-विहित-धर्म में निरत थे; समयानुसार वृक्षों से फल-फूल भी यथेष्ट रूप से मिलते थे; मानो यह राज्य देवराज के ही चौदहो भुवनों के समान शासित हो रहा था ॥ १७ ॥

पुण्यावसाने वृजिनोदये च वंशे हि राज्ञः परिलुप्यमाने ।
ईशेच्छया हैहय-वंशरोपी पुण्य-प्रभावाद्दरि-गर्व-लोपी ॥१८॥

अर्थ—पर इस प्रकार के राज्य का भी अन्त आही गया। उस प्रतापी राजा, सर्वसेन, का भी पुण्य-क्षय और पापोदय होने लगा। मानो उस राज-वंश का लोप होने ही वाला था। उसी समय, ईश्वर की प्रबल इच्छा से, "हैहय" वंश की जड़ जमाने वाले राजा का पुण्योदय हुआ। वह राजा कैसा प्रताप-शाली था, उसका वर्णन अगले श्लोकों में देखिये ॥ १८ ॥

तस्मिन्काले सम्यक्पाले, प्रत्यग्देशे शान्त-क्लेशे ।
राजाजातो नाम्नाख्यातो, मेधा-धारी शिष्टाचारी ॥ १९ ॥

अर्थ—उसी समय एक बुद्धिमान्, शिष्टाचारी, अपने सम्पूर्ण राज्य का सम्यक् पालन करके शान्त-क्लेश, अत्यन्त प्रसिद्ध संमुख ही वाले देश में "मेधाधारी" नामक राजा उत्पन्न हुआ ॥१९॥

अश्वारोहे-हस्त्यारोहे शास्त्रास्त्रोहे दुष्टापोहे।
सर्वत्रासावासीद्दक्षः शम्भुर्यद्वल्लोकाध्यक्षः ॥ २० ॥

अर्थ—वह अश्वारोहण में, हाथी पर सवारी करने, अस्त्र-शस्त्र-सञ्चालन में और सब को त्रास (भय) देने में शिव की नाईं लोक-स्वामी एवं दक्ष था ॥ २० ॥

श्रुत-वल शुभ-तनु वय उरुतर मद, परपरिभवन सहृदथ स उरुतर ।
वलयुत गुरुतर मद उरुतर धन, हितगत परविषय परधनहरदिति ॥२१॥

अर्थ—वह राजा जगद्विख्यात वलवान, नव-वयष्काभिमानी, अपने वैरियों के धन-मद नाशक, अपने महत्तर धन-वल से दूसरों के विभव-पराक्रम का नाश करने वाला था ॥ २१ ॥

ततः प्रतापी सवलेन युक्तः इन्द्रौ विशुद्धे शुभ-काल एषः ।
शत्रूञ्छरण्यः परिजेतु कामोमनो मनस्वी विजयाय दध्रे ॥ २२ ॥

अर्थ—तदनन्तर इस बल-शाली, प्रतापवान, शत्रुओं को हरा कर शरणागतों को आश्रय देने वाले, मनोमनस्वी राजा ने दिग्विजय की कामना करके शुक्ल-पक्ष के शुभ मुहूर्त्त में—एक सुन्द र दिन निश्चय किया ॥ २२ ॥

सायं रथं सारथिना विधिज्ञोनिवशयामास वहिस्स्वपुर्य्याः ।
भुक्त्वाथ भोज्यं विधिवद्भुजिज्ञोरथं समारुह्य शयालुरासीत् ॥२३॥

अर्थ—साँझ को ही उस राजा ने अपने सारथी द्वारा रथ को नगर के वाहर रखवा दिया । इसके पश्चात् उस भोजन के रसों के ज्ञाता राजा ने विधिपूर्वक भोजन किया और फिर जाकर रथ में सो रहा ।

प्रातः समुत्थाय विशुद्धदेहो मैत्रं समाप्याथकृताग्नि-होत्रः ।
सुरानसौ भूमि-सुरांश्च नत्वा जगाम साकं स्वपुरोधसैव ॥२४॥

अर्थ—प्रातःकाल उठकर, शौचादि कृत्य करके, विशुद्ध शरीर हो, अग्नि-होत्र किया; और, तब देवताओं और ब्राह्मणों को प्रणाम कर के, अपने पुरोहितों सहित चला ॥ २४ ॥

वेदारवैस्साद्धमथारुरोह रथं रथानां प्रवरं रथाग्रणीः ।
आरुह्य यानं रथिनां प्रवीरः सेनां स्वकीयां महतीं विकर्षन् ॥२५॥

अर्थ—वेद-ध्वनि के साथ रथों में श्रेष्ठ, अग्र गामी, रथ पर चढ़ कर, उस वीर-पुङ्गव नर श्रेष्ठ ने अपनी महती सेना को गमनार्थ आज्ञा दी । ॥ २५ ॥

जगाम काष्ठां यम-पालितांवै तत्रत्य राज्ञा विजयान्विजतो ।
विजित्य राजाविजयी विपक्षा-नादाय तेभ्यो हि करं करार्हैः ॥२६॥

अर्थ—वहाँ से, पहले-पहल, यम पालित दिशा, दक्षिण, को गया और वहाँ कोई भी स्वतंत्र राजा न बच रहा, अर्थात् अपने विपक्षी नरेशों को विजय करके उस विजेता राजाने उनसे योग्य कर बँधवा दिया । ॥ २६ ॥

ततः प्रयातः प्रयतः प्रतावी प्राचीं दिशं शत्रु-जयं विधातुम् ।
तत्रास्यसार्द्धं प्रवभूव युद्धं प्राच्यैः प्रघोरं विजितारिमुख्यैः ॥२७॥

अर्थ—तदनन्तर वह प्रतापी पर्य्यटन-तत्पर राजा, अपने शत्रुओं को पराजित करने के लिये, पूर्व-दिशा में गया । वहाँ उसके पूर्वीय प्रधान शत्रुओं से घोर समर प्रारम्भ हो गया ॥ २७ ॥

शिरांसि पेतुर्द्विषतां हि तत्र छिन्नानि खड्गैश्च भुजोरु-पादाः ।
उत्तस्थुराजौ हि कवन्ध-संघा-श्छिन्धीति भिन्दीति भृशं वदन्तः ॥२८॥

अर्थ—वहाँ उस राजा ने अपने खड्ग-प्रहार से अपने शत्रुओं के शिर, बाहु, जंघा तथा पैरों को काट कर ढेर लगा दिये । समर-क्षेत्र में उठे हुए कवन्ध-वृन्द (शिर कटे हुए शरीरों का समुदाय) भयानक शब्दों में "मारो-मारो, काटो-काटो" आदि शब्दोच्चारण करते थे ॥ २८ ॥

गजाः संछिन्नसर्वांगाः, शक्त्यृष्टि-शर-तोमरैः ।
पलायनपरा रुद्धा अंकुशैर्हस्तिपैर्हठात् ॥ २९ ॥

अर्थ—उस युद्ध में, शक्ति-शूल-तोमर इत्यादि के विकट प्रहार से सम्पूर्ण हाथिओं का सर्वाङ्ग छिन्न-विछिन्न हो गया; तथा गज-रक्षकों द्वारा अंकुश के प्रयोग से रोके जाने पर भी वे भाग निकले ॥ २९ ॥

अश्वाश्वतर्य्युष्ट्रवृषादयोपि विभिन्न-काया विविधा युधौघैः ।
स्थिताः प्रयत्नैश्च कथंचिदाजौ मुखाक्षि-कर्णैरसृगुत्सृजन्तः ॥३०॥

अर्थ—उस महा-समर में, घोड़े, खच्चर, ऊँट और बैलों के, नाना प्रकार के शस्त्रों के लगने से, शरीर कट-कुट कर छिन्न-विछिन्न हो गये थे; किन्तु तथापि, मुख-आँख-कान से रक्त की धारा निकलते रहने पर भी, यत्न-पूर्वक किसी प्रकार युद्ध-क्षेत्र में वे स्थित रहे। कदापि विचलित न हुए॥ ३०॥

रथाविचेरुर्हत-सूत नाथाः पदातयः पत्तिभिरर्द्यमानाः ।
हुत्वा रणाग्नौ सुधियः स्वदेहान् गता गतिं वीर-वरार्थनीयाम् ॥३१॥

अर्थ—समराङ्गण में, कितने ही रथ सारथियों बिना अनाथ-से घूम रहे थे, और पदाति-सैनिक परस्पर युद्ध कर रहे थे। इस प्रकार अनेक विद्वान-वीरों ने अपने इस भौतिक शरीर की समराग्नि में आहुति देकर, अतीव दुर्लभ वीर-गति प्राप्त की॥ ३१॥

एवं हि युद्धयन्वलिभिर्वलीयान् प्रक्षीणतुर्य्यांशवलोवभूव ।
जिग्येथ वीरोरि वलं कथंचित् सहायभूतैः स्ववृषैः पुरातनैः ॥ ३२ ॥

अर्थ—इस भाँति अपने प्रवल शत्रुओं से युद्ध करते हुए अपनी सेना का एक चौथाई भाग खो देना पड़ा; किन्तु उस राजा ने अपने पूर्व-पुण्य की सहायता से उन सभी वैरियों को यम-सदन भेज दिया॥ ३२॥

जित्वा च जय्यान्सनृदेव-वीरः पदे स्वकीये हि निधाय भूयः ।
आदाय देयं ददतां दयालु—स्तेभ्यो निवृत्तोथ निवृत्त-कृत्यः॥ ३३ ॥

अर्थ—उस दयालु राजा ने जीतने योग्य वीरों को पराजित करके, उनसे कर लेकर, उन्हें फिर उनके पदों पर अधिष्ठित कर दिया। इस प्रकार अपने इस कृत्य को समाप्त करके वहाँ से वह लौट चला॥ ३३॥

आयातोऽसौ तस्माद्देशा—न्मार्गे राज्ञोऽन्यान्न्यपकुर्वन् ।
प्रतिनृपपुरममित धममपरमित-हय-गज-रथ-नर-वर-वलयुत इति॥३४॥

अर्थ—रास्ते में आते हुए उस देश के अमित हय-जग-रथ-मनुष्यादि से भरे हुए दूसरे राजाओं के नगरों को उस राजा ने कोई हानि नहीं पहुँचाइ ॥ ३४ ॥

अथागतो धीर-धुरन्धराग्रणीः परंतपोसौ प्रथितप्रतापः ।
पुरीं पुरारेः प्रतिराजधानीं काशीं प्रकाशी-कृत-मुक्ति-खानीम् ॥ ३५ ॥

अर्थ—तदुपरान्त वह धीर-धुरि-धारी, वीर-पुङ्गव, शत्रुओं को तापित करने वाला प्रसिद्ध प्रतापी राजा मुक्ति की खानि, शिव-पुरी, काशीजी, में आया ॥ ३५ ॥

ननाम दूराद्धि दरिद्रदाहां प्रापाथ वीरः सुकृतेन गम्याम् ।
विमुच्य वाहादि भृशं प्रसन्नः स्नातुं प्रयातः स्ववृषं प्रशंसन् ॥ ३६ ॥

अर्थ—नाना-प्रकार की दरिद्रताओं को नष्ट करने वाली, सुकृति से प्राप्त होने वाली श्री विश्वनाथ-नगरी को दूर ही से देखकर उस राजा ने प्रणाम किया; और वाहन इत्यादि का त्याग करके, पैदल ही, मन में अत्यन्त हुलसित होकर, अपने भाग्य (पुण्य) की प्रशंसा करते हुए, श्रीभगवती भागीरथी के स्नान को गया ॥ ३६ ॥

स्नात्वाथ वीरो मणिकर्णिकायां, दत्वा च दानानि यथोप्सितानि ।
घट्टाधिकारी-द्विज-बृन्दतायै जगाम विश्वेश्वर-दर्शनार्थी ॥ ३७ ॥

अर्थ—तदनन्तर वह वीर राजा श्रीमणिकर्णिका तीर्थ में स्नान करके, एवं घाटिये ब्राह्मणों को यथेष्ट दान देकर, श्रीविश्वदेव, विश्वनाथ, के दर्शन को गया ॥ ३७ ॥

दृष्ट्वाथ देवस्यहि मन्दिरं महां स्ताराद्रिशोभं महनीयकीर्त्तेः ।
शिवस्य संहर्तुरजस्य राजा तृप्ताक्षि-भृङ्गो मुदमाप मुख्याम् ॥३८॥

अर्थ—वहाँ पर महान् कीर्ति वाले, सृष्टि को लय करने वाले अजन्मा देवता श्रीशङ्करजीके पर्वत पर तारकावलि-विभूषित शोभा-धारी मन्दिर के दर्शन कर के उनके नेत्र-भ्रमर सन्तुष्ट हो गये, तथा उन्हें अनुत्तम सुख प्राप्त हुआ,—बड़े ही आनन्दित हुए ॥ ३८ ॥

प्रविश्य तस्मिन्भवनोत्तमे सुधीश्चकार पूजां दश-षट्-प्रकाराम् ।
स्तुत्वा तमीड्यं महतां महान्तं नत्वा नमस्यं स वभूव पूर्णः ॥३९॥

अर्थ—उस मन्दिर में जाकर विश्वनाथ की सोलह प्रकार से पूजा की। और महाशक्ति-सम्पन्न परम पूजनीय शिवजीकी स्तुति-पूजा तथा नमस्कार करके परमानन्दित हुआ ॥३९॥

अथ प्रभाते प्रथित-प्रभावः प्रस्थापयामास वलं वलीयान् ।
पुर्य्याः पुरारेः प्रतिराजधानीं जैत्रं जयी सर्व-वलस्य राज्ञः ॥४०॥

अर्थ—प्रातः काल उस समस्त राजावों के वल जीतने वाले, प्रभावपूर्ण राजा ने अपनी सेना के वलवानों को शिव-धाम, काशी, से अपनी राजधानी को प्रस्थान करने की आज्ञा दी ॥ ४० ॥

यस्मिन्काले प्रस्थितोसौ प्रवीर स्तस्मिन्काले तस्य राज्ञःप्रजज्ञे ।
स्वान्तेशंसी सर्व-सम्पत्ति-नाशं घोराद्घोरो वेपथुर्दुःखदाता ॥४१॥

अर्थ—उस वीर-वर के प्रस्थान करते ही सम्पूर्ण धन-नाश की सूचना देने वाला, महादुःख-दाता घोर से भी घोर शरीर-कम्प होने लगा ॥ ४१ ॥

उत्पाताश्चोत्पेतुरुग्रास्त्रिधा खे भूमौ चात्मन्या प्रजाताः सुघोराः ।
सूर्य्यस्यासीन्मण्डलं मन्दकान्तेः पर्वाभावे राहुणाग्रस्तमासीत् ॥ ४२ ॥

अर्थ—और, समस्त पृथ्वी और आकाश में महा-उग्र, अत्यन्त घोर, दैहिक और भौतिक तीनों प्रकार के उत्पात् होने लगे। सूर्य्य का मण्डल कान्ति-हीन हो गया; मानो, समय न होने पर भी, राहु ने घेर लिया हो ॥ ४२ ॥

आशा आसन्धूलिभि धूंम्र-वर्णा उल्काश्चोत्पेतूरजन्यां हि रक्ताः ।
दिग्दाहोतीव प्रजातोतिभीदो, वायुर्वै वातिस्म घोरात्सुघोरः ॥४३॥

अर्थ—सम्पूर्ण दिशाएँ धूल के उठने से धूएँ-सी धुंधली हो गई थीं; रात्रिके समय रक्त-वर्ण, लाल-लाल, उल्कायें (लूकें) गिरती थीं; अत्यन्त भय देनेवाला दिग्दाह (सारी दिशाओं का प्रज्वलन) होने लगा; और घोर से भी घोर वायु बहने लगा ॥ ४३ ॥

भूः साकं भूधर-वृन्दैश्च कम्पे ससुर्नद्यो जलमारक्त-वर्णम् ।
वापीः साकं जल-जातैस्तड़ागैर्भ्रष्टश्रींश्चानिशमीक्षन्त लोकाः ॥४४॥

अर्थ—पृथ्वी के साथ ही समस्त पर्व्वत-मण्डल हिल उठा, नदियों का जल रक्त वर्ण हो कर बहने लगा; बावली और पुष्करणियों को (पोखरोंको) लोग श्री-हीन देखने लगे, अर्थात् उनकी भी शोभा जाती रही ॥ ४४ ॥

श्व-खर-शृगाल-शिवा अशिवानतिभयदानशुभान्व्यनदन् ।
सुर-वर-पुत्तालिका व्यरुदन् मुमुचुरतीवशरीर-जलम् ॥४५॥

अर्थ—उस अशुभ काल में, कुकुर, स्यार, और स्यारिनियाँ अत्यन्त भयङ्कर और अशुभ शब्द करने लगीं, तथा देव-मूर्त्तियाँ रोने और सम्पूर्ण शरीर से जल वहाने लगीं ॥४५॥

नयन-भुजोरुभिरास्फुरितै र्निगदितमन्ति भृशंहि भयम् ।
युवति-नृणामथ विप्रतिगै-रतिभय-सूचनकैरशुभैः ॥४६॥

अर्थ—इन प्रतिकूलाचारों से, अमङ्गल अङ्गों, स्त्री-पुरुष के यथाक्रम बाँयँ-दायँ नयन-हस्तों के फड़कने से, निकट ही में अत्यन्त भय सा भास होने लगा। अथात् इन अपशकुनों ने समीपही में स्थित भय की सूचना देदी ॥४६॥

इत्थं राजा त्रिविधमतिभयं दृष्ट्वोत्पातं स्वमनसि निपुणः ।
सार्द्धं तर्कं स्व-सचिव-सुजनै रेतैः किं भाव्यमिति सकृतवान् ॥४७॥

अर्थ—वह चतुर राजा इस प्रकार के तीनों भाँति के उत्पातों को देख कर, अपने मन्त्रियों और विद्वानों के साथ यह विचार करने लगा कि इन अपशकुनों का क्या फल होगा ॥४७॥

तर्किते हि सचिवैरितीहवै राजनि प्रददृशे जनैरजः ।
खेचरतं दिनकरं तथा स्तृरगात्संप्लवं किमिति मन्यते जनः ॥४८॥

अर्थ—मन्त्रियों सहित राजा तो इधर इस प्रकार सोच रहा था, और उधर लोगों को धूल उठती हुई दिखाई पड़ी, और आकाश मेँ सूर्य्य को (धूलसे) ढका हुआ देख कर लोग सोचने लगे कि यह क्या हो रहा है ॥ ४८ ॥

तर्ह्येवायातो विंसतर्क्यपातो मेधा-धारी प्रहर्ता ह्यरीणाम् ।
आगत्यासौ सर्वसेनस्य राज्ञः संरोधं संकारयामास पुर्य्याः ॥ ४९ ॥

अर्थ—इधर राजा इस प्रकार के तर्क-वितर्क में ही लगे हुए थे कि शत्रुओं को नाश करने वाला मेधाधारी नामक राजा ने उस सर्वसेन राजा के नगर को घेर लिया ॥ ४६ ॥

दृष्ट्वाथ रोधं रिपुणा वलीयसा कृतं स्वपुर्य्याः स हि सर्वसेनः ।
आज्ञापयामास वलं स्वकीयं युद्धाय योधा प्रवलो वलीयसा ॥ ५० ॥

अर्थ—जव सर्वसेन राजा ने शत्रुओं से अपनी राजधानी इस प्रकार से घिरी हुई देखी तो, अपनी सेना के वलवानों को युद्धकी आज्ञा दी ॥ ५० ॥

ततोस्य युद्धं वलिनां वलीयसा वभूव घोरं प्रचुरं प्रतापिना ।
यथा सुराणामसुरैरभूत्पुरा देव्या यथा वा महिषासुरेण ॥ ५१ ॥

अर्थ—अतः इन प्रतापियों में वड़ा ही घोर युद्ध हुआ । उसकी तुलना या तो प्राचीन काल के देवासुर-संग्राम से की जा सकती है, अथवा दुर्गा और महिषासुर के समर से की जा सकती है ॥ ५१ ॥

देवस्य संहर्त्तुरिवाष्टमूर्त्तेः पुरा पुरारे स्त्रिपुराधिपेन ।
विस्मापनं यद्धि सुरासुराणाम् त्रैलोक्य-नाथस्य हि लोक-शत्रुणा ॥५२॥

अर्थ—अथवा यों कहिये—यह युद्ध वैसाही हुआ, जैसा कि अतीत् काल में संहारकारी देव-देव महादेव का त्रिपुर राक्षस से हुआ था । अर्थात् जैसे संसार के प्रवल-शत्रु त्रिपुर दैत्य ने जगत्पति को दृश्य दिखलाया था, वैसाही ठीक, अविकल,दृश्य इस महायुद्ध में समुपस्थित हुआ॥५२। ।

स्वेच्छावतीर्णस्य परस्य पुंसो भारावताराय हरेरवन्याः ।
पौलस्त्य-मुख्येन यथा पुरासीत् जन्यं सुघोरं त्रैलोक्य-शङ्करम् ॥५३॥

अर्थ—इस युद्ध की उपमा इस भाँति भी स्थिर की जा सकी है—जिस प्रकार अपनी इच्छा से जन्म लेने वाले भगवान् श्रीरामचन्द्र का, पृथ्वी के भार हरणार्थ पौलस्त्य-प्रधान, रावण, से विकट संग्राम हुआ था, वैसाही यह भी युद्ध हुआ ॥ ५३ ॥

शाल्वेन सौभपतिना हि हरे र्यथाऽसीत् प्रध्नं प्रभूतनर-वीर-समूह-हारि ।
गीर्वाण-नायक-विरोचन-पुत्रयोर्वा संग्राम आभयकरं प्रवभूव यद्वत् ॥५४॥

अर्थ—इसको दूसरी भाँति से भी यों कह सकते हैं—जिस प्रकार का वीर-कुल-विनाशक महा युद्ध शाल्य राजा और श्री नारायण से हुआ था; और, जैसा देव-राज, इन्द्र से विरेचन के पुत्र, वलि से चारों ओर घेर कर भयानक युद्ध हुआ था; यह समर ठीक वैसा ही हुआ ॥ ५४ ॥

संग्राम आसीत्कुरु-पाण्डवाना मष्टादशाक्षोहिणि-रूपतश्च ।
तथानयोरप्यभवद्धि युद्धम् संघर्षजामर्षजुषोः प्रवीरयोः ॥५५॥

अर्थ—वा, जिस प्रकार का कुरु-पाण्डवों की १८ अक्षौहिणी सेना से महाभारत-युद्ध हुआ, उसी प्रकार इन दोनों वीरवर राजाओं ने आपस में खूब मीसा-मीसी (धक्का-धक्की) करके युद्ध किया । ॥ ५५ ॥

गजवरा गजवरैश्च संगतास्तुरगमास्तुरगमैस्सुसंययुः ।
रथवरा रथवरैस्समाययुः पदचराः पदचरैश्च संयुताः ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस युद्ध में बड़े २ हाथी हाथियों से, घोड़े घोड़ों से, रथ पर के वीर रथियों से और पदाती सेना पैदल सेना से लड़ाई करती थीं । अर्थात् वहाँ न्याय-युद्ध होता था ! योग्य-योग्य से ही युद्ध करता था । ॥ ५६ ॥

धनूंषि विस्फूर्य्य महान्ति वीरा सम्पातयामासुरमोघवाणान् ।
तैश्छिन्नहस्ताः करिणोनिपेतुर्वज्राहताः पर्वत-सानवो यथा ॥५७॥

अर्थ—रण-रङ्ग में वीर पुरुषों ने बड़े २ धनुषों को चढ़ा कर ऐसे-ऐसे अव्यर्थ वाण-सन्धान किये कि उन के लगने से बड़े बड़े हाथियों के सुण्ड इस भाँति रण-भूमि में गिरने लगे, मानो वज्र के लगने से पर्वतों के शिखर चूर्ण होकर पृथ्वी पर गिरते हों । ॥ ५७ ॥

अश्वास्तथा छिन्नशिरो धराधरां प्राप्तास्स्वपत्निस्म ससादि-भूषणाः ।
रथा रथस्थैस्सह वाजिसूतैरसां विभिन्नात्त्ववरुथका गताः ॥ ५८ ॥

अर्थ—रुण्ड-मुण्ड कटे हुए घोड़ों का समुदाय, नाना आभूषणों, महारथियों और सारथियों को साथ ले, उस रणस्थल में, अनन्त निद्रा में सोने लगा ॥ ५८ ॥

नरा नरैश्चापि विभिन्न-देहाः शक्त्यृष्टिवाणात्त्ववरासितोमरैः ।
पेतुः पृथिव्यां शतसः सहस्रशः प्रमीलिताक्षा हि विशीर्णदंशाः ॥ ५९ ॥

अर्थ—उस महासमर में, शक्ति, वाण, तोतर, कृपाण, इत्यादि अस्त्र-शस्त्र लेकर, मनुष्यों ने—परस्पर दर्शनीय युद्ध किया. और कवचों के जीर्ण-शीर्ण हो के कट जाने से, आखँ बन्द किये हुए—भाव भरे, हुए—एक-एक साथ सैकड़ों—सहस्रों की संख्या में वे धराशायी होने लगे। ॥ ५६ ॥

उतस्थुराजौ हि कवन्ध-सङ्घाः संगृह्य शस्त्राराथधावमानाः ।
"छिन्धीति-भिन्दीति" रवान्स्वनन्तो दृष्ट्वा च तान्भीरु-जनाश्च विभ्युः॥६०॥

अर्थ—समराङ्गण में, हाथों में नाना प्रकार के आयुध धारण किये हुए "मारो-मारो !" "काटो काटो !!" शब्द करते हुए, दौड़ने वाले विना शिर के मनुष्यों को देख कर कायर मनुष्यों के होश उड़ गये और वे अत्यन्त भयापन्न हो कर काँपने लगे ॥ ६० ॥

प्रमुदित-वदना असृग्भोजना नन्टतुरतिशयं प्रहृष्टान्तराः ।
जगदुरतिभयङ्करान्निःस्वान् श्रवण-विशिख-संनिभान्दुःसहान् ॥६१॥

अर्थ—अब रक्तपान करने वाले जीवों का भी उमङ्ग द्रष्टव्य है। वे अत्यन्त प्रसन्न मन होकर नाच रहे हैं; और असह्य, कानों को वाण के समान वेधने वाले भयङ्कर शब्द करके अपनी प्रसन्नता का प्रकाश कर रहे हैं। ॥ ६१ ॥

मत्ताः सर्वेऽपिशित-चरा ये जम्बूक-श्व-प्रमुख-सुसत्वाः ।
अान्योन्यांश्चापिबिरुरुधस्ते क्रूरस्वान्ता रणवसुमत्याम् ॥ ६२ ॥

अर्थ—सियार कुत्ते इत्यादि धरती पर के जीव पागल होकर आपस में ऐसे लड़े कि सारा रण-क्षेत्र रो उठा और वड़ा भयानक और निर्दय-सा प्रतीत होने लगा ॥ ६२ ॥

मांसलवान्परिगृह्य च चञ्चुपुटैः खगतिः
खादयितुंस्वकवत्सगणं गतवानथविः ।
नीड-समीपमथागतवन्तमभीक्ष्यनिजं
पोषकमाददतवान्स च चञ्चु-पुटाञ्छिशुकः ॥ ६३ ॥

अर्थ—उस युद्ध में कटे हुए शत्रुओं के मांसो को मांसाहारी गगनचारी, पक्षी, अपनी२ चोंचों में, अपने—अपने बच्चों को खिलाने के लिये, लेकर स्वनीड़ (अपने खोते पर) को चले; वहाँ के पक्षि-शावक अपने पोषकों को आहार ले आते देख, चोंच फैलाकर, शब्दादि करते हुए, उनका सम्मान-स्वागत करने लगे ॥ ६३ ॥

एवं राज्ञा सर्व-सेनस्य राज्ञः सर्वा सेना नाशिता युद्धमाना ।
राजानं तत्रातिवीरो जघान सार्द्धं पुत्रैः पौत्र-वर्गैः स्वकीयैः ॥ ६४ ॥

अर्थ—इस प्रकार महाराज सर्व-सेन की सम्पूर्ण युद्धवती सेना विनष्ट हो गई; और उस मेधाधारी राजा ने उन्हें भी, उनके पुत्र, पौत्र और ज्ञाति-बन्धुओं सहित, यमालय का रास्ता बता दिया। वे भी रणाग्नि में समिधा-स्वधा हो गये ॥ ६४ ॥

गतावीराः सर्वे परमपदवीं दुर्ल्लभतरां,
नृपैरन्यैः सर्वैर्विमुख-रणकैरप्यतितराम् ।
स राजापिस्वीय्यैः स्वजन-सुत-पौत्रैश्च सह वै,
गतस्स्वर्गं सर्वैः परमसुख-रूपं सुकृतिभिः ॥ ६५ ॥

अर्थ—सारे वीर रण में मर कर दुर्लभ स्वर्ग सिधारे। वह राजा भी, अपने पुत्र-पौत्र तथा ज्ञाति-कुटुम्बियों सहित, सुकृति से प्राप्त होने वाले परम सुख के स्थान स्वर्ग में सिधारा ॥ ६५ ॥

एवं सर्वेषु वीरेषु, स्वर्गतिं प्रगतेष्वनु ।
मेधा-धारी स्वकां सेनां, प्रेरयामास सत्वरम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—इस प्रकार सम्पूर्ण वीरों के स्वर्ग-प्राप्त हो जाने पर, उस "मेधाधारी" नामक राजा ने अपनी सेना को राजधानी भेज दिया ॥ ६६ ॥

ते मेधाधारिणः सैनिकपवरंवरास्सर्वसेनस्य राज्ञः,
प्रादग्ध्वा राजधानीं निरवधि-विभवां तां समं राजसौधैः ।
वित्तंचादायसर्वं मणिगणसहितं राजदारैश्च साकं,
सम्प्राप्ताशानितृप्ताः परधन-धनिनो जातहर्षा वभूवुः ॥ ६७ ॥

अर्थ—और तब, उस राजा के बलवान् सेना-नायकों ने महाराज सर्वसेन की सम्पन्न विभवा राजधानी को जला दिया; तथा राज-महिषी समेत अनेकशः मणि इत्यादि सम्पत्ति पाकर, दूसरों के पाये हुए धन से धनी हो, अपनी अभिलाषा पूर्ण करके, अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ ६७ ॥

आकृष्य तस्याः पृतनां प्रतापी,
हतावशिष्टां शिविरं समागात् ।
गत्वा स तस्मिन्सह-शस्त्र-वमर्भि—
र्विमुच्यवाहं समुपास्त पश्चिमाम् ॥६८॥

अर्थ—उस प्रतापी राजा ने सेर्वसेन की राजधानी में बची हुई सेना भी अपनाली, और तब अपने शिविर (डेरे) में जाकर, रथ तथा अस्त्र-शस्त्र उतार कर, पश्चिम-मुखी (सायंकाल की) सन्ध्या की ॥ ६८ ॥

ततः प्रातः सम्यक्, शुद्ध-हृच्छान्तबुद्धिः ।
प्रयाणं सेनानां कारयामास धीरः ॥ ६९ ॥
जेतुकामः स कौवेरीं दिशं वीरः परन्तपः ।
अलकापतिमानम्य शंकरम् लोक-शंकरम् ॥ ७० ॥

अर्थ—तदनन्तर प्रातःकाल उस शत्रुओं को परिताप देने वाले धीर, वीर राजा ने, शुद्ध और शान्ति-चित्त होकर, संसार का कल्याण करने वाले, अलकापति, श्रीमहादेवजी, को प्रणाम करके, अपनी सेना को उत्तर दिशा में प्रस्थान करने की आज्ञा प्रदान की ॥ ६९ ॥ ७० ॥

तत्र नृपान्वशं नीत्वा, जगाम निज-मन्दिरम् ।
तुर्य्यांश शिष्टसैन्योऽसौ गतो वै कृतकृत्यताम् ॥ ७१ ॥

अर्थ—वहाँ के राजाओं को भी अपने वशमें करके, और अपनी एक चौथाई बची हुई सेना लेकर, कृतकृत्य हो, वह अपनी राजधानी को चला गया ॥ ७१ ॥

इति श्रीमद्वराह-चरित्रे मेधाधारि-दिग्विजय-वर्णनोनाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार तीसरा सर्ग समाप्त हुआ ।

चतुर्थः सर्गः ।

श्री गुरुरुवाच ।

एवं हि देवोदासोद्भवे महतां महीयसि, राजनीति-धनुर्विद्यादि-सद्गुणवति, वृद्धोपासन-पूजन-दानादि-शील-शालिनि, श्रीमत्सर्वसेनस्य राज्ञो वंशावसानेऽपितन्नगरस्थैः पुरुषवर्य्यैः क्रियमाणाः श्रीमत्कोटि-तीर्थस्नानश्रीमद्वराह--हनुमतोर्दशन--पूजास्तुत्यादयस्तुतथैव प्रावर्त्तन्त-यथापुरा ॥ १ ॥

अर्थ—इस भाँति महाप्रतापी महाराज देवोदास के सुवंश में जायमान्, राजनीति, धनुर्वेदादि-विद्या-विशारद, गुरुजनों की भक्ति करने वाले, दानादि-शील-सम्पन्न, श्रीमत्सर्वसेन महाराज के वंश के नाश हो जाने पर भी, उनके नगर-निवासि-श्रद्धालु मनुष्यों ने, पूर्व ही के समान, श्रीकोटितीर्थ में स्नान करना और श्रीमद्वराह जी तथा श्रीमद्धनुमान जी की पूजा-अर्चा करना जारी रक्खा ॥ १ ॥

अथ च कलि-प्रथम-चरणाख्यो महान्कालो व्यतीयाय तत्र कश्चि-त्प्रथम-प्राजापत्यवंशोद्भवो यवनेश्वरो दिल्लीपत्तन-सिंहासनाधिकारी वभूव । स च सर्वराजभिरमात्यादिप्रकृतिभिश्चाभिसिक्तः कञ्चित्कालं राज्यम् चकारम् ॥ २ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर, कलियुग के प्रथम पाद के वीत जाने पर, प्रजापति के वंश में उत्पन्न हुए यवनों ने (मुसलमानों ने) दिल्ली के राजसिंहासन पर अधिकार किया । वे सम्पूर्ण राजाओं और मन्त्रियों तथा प्रजाओं से राज्याभिषिक्त होकर, कुछ काल तक, राज करने रहे ॥ २ ॥

अथास्य "साज्हाँ१" नाम्नो "बादसाह"स्य कियत्काले गते-"अवरंगजेब२" नामा तनूजः समुद्भूतः । स च जन्मान्तरीयाणकवशाद्य-बनयोन्युत्पन्नत्वाच्च खल-संसर्गाच्च प्रकृत्यैव महाखल आसीत् ॥ ३ ॥

अर्थ—इसके वंश में "शाहजहाँ" नाम बादशाह हुआ। कुछ काल बीतने पर उस के "औरंग-ज़ेब" नाम पुत्र हुआ। वह, पूर्वजन्म के कुकृत्य, मुसलमान् वंश में उत्पन्न होने और दुष्टों के संग में रहने से, स्वभावतः महाखल था। ॥ ३ ॥

अथच स्वजनकेऽव्यक्तवर्त्मना वलीयसमापि बलीयसा सर्वसंहारकारकेण कालेनोपसंहृते रसावनिभूधर-भूमिते वर्षे, निजपितृपदे राजाऽमात्य प्रजाभिश्च स्थापितोतिगर्वितो वभूव ॥ ४ ॥

अर्थ—तदुपरान्त, जब बलवानों से भी महाबलवान काल ने उनके पिता को हड़प लिया, तो सम्वत् १७१६ वि० में, अपने पिता के स्थान में, राजाओं, और मन्त्रियों द्वारा अभिषिक्त हो कर वह राजा हुआ।

अथच महत्कालाभुक्त-"बादसाह" पदवी-आसुरी-प्रकृतिकत्वाद्देव-द्वेषे मनोदधे । ततश्च तत्तद्देव-मूर्ति-शक्तिपरीक्षार्थं तत्तद्देवस्थानानि ससैन्यो जगाम ॥ ५ ॥

अर्थ—इसके पश्चात् बहुत समय तक राज कर के, आसुरी (पैशाचकी) प्रकृति के कारण, देवताओं से द्वेष करना आरम्भ किया। और उन-उन देवताओं की शक्ति-परीक्षा के लिये उन-उन देवस्थानों में अपनी सेना सहित गया। ॥ ५ ॥

अथ तत्तत्तीर्थेसु पर्य्यटँस्तत्तद्देवालयान्प्राप्य तत्तन्मूर्तीनामङ्गभङ्गा

१-शाहजहाँ दिल्ली के महाप्रतापी बादशाह हुए हैं। इनका राजत्वकाल १६२७ ई० से आरम्भ होता और १६५८ तक रहता है।

२-यह उन्हीं का पुत्र था। हिन्दुओं के लिये यह महाक्रूर था। उनके धर्मका नाश ही सोचा करता था। अपने पिताको बन्दी कर के और भाई-बन्धुओं को मार कर सन् १६५८ ई० में दिल्ली का राजा हुआ। सन् १७०७ में इसका शरीर पात हुआ।

दिन्यक्कारं कुर्वन्क्रमेण दैववशाद्विन्ध्याचलं प्राप ततश्च भगवती-तिरस्कारे मनश्चक्रे ॥ ६ ॥

अर्थ—और इस भाँति तीर्थों में घूमते हुए, वहाँ की मूर्त्तियों को अंग-भंग करते हुए क्रमशः संयोग से वह विन्ध्याचल में पहुँचा, और भगवतीजी का अपमान किया चाहा ॥ ६ ॥

ततो महा-मायाऽपि सर्वहृत्स्थितत्वात्तन्मनोगतं ज्ञात्वा महिषासुर-वधावशिष्ट-क्रोध-लवावेशादारक्तनयना सावज्ञं तं यवनाधमम् निरैक्षत् ॥ ७ ॥

अर्थ—और तब महामाया विन्ध्यवासिनी देवी ने, महिषासुर के मारने के पश्चात् बचे हुए थोड़े क्रोधमात्र से, आँखे लाल-लाल कर के उस नरपिशाच, यवनाधम की ओर देखा ॥७॥

ततस्तु तदिच्छया भ्रमरवृन्दाः समुद्भूतास्तैरुपद्रुतोऽसौ ससैन्यः कान्दिशिकस्सन् श्रीविश्वेश्वर-राजधानीं कैवल्यखानीं श्रीकाशिकांप्रति प्रतस्थे ॥ ८ ॥

अर्थ—उसी समय देवी की इच्छा से, भवरों का समूह उठा और वह बादशाह डरकर, अपनी सेना सहित, मुक्त-दायिनी, विश्वनाथ पुरी, काशी, की ओर प्रस्थानित हुआ ॥ ८ ॥

तदा च तदागमनं श्रुत्वा तद्दौष्टयं च ज्ञात्वा श्रीविश्वेश्वरपूजकै र्द्विजवरैस्तल्लिंगमन्यत्रनीत्वा महता प्रयत्नेन जुगुपे । "विश्वनाथो ज्ञान वाप्याम् वुवूड विश्वनाथो ज्ञान-वाप्यां ममज्येति" कोलाहलोऽपि चक्रे।९।

अर्थ—और उसका काशी-आगमन जान कर तथा उसकी दुष्टता का विचार करके श्री विश्वनाथ के पूजक ब्राह्मणों ने श्री लिङ्ग को तो कहीं छिपाकर रख दिया और यह हल्ला कर दिया—कि "विश्वनाथ जी ज्ञानवापी में डूब गये" ॥ ९ ॥

यवनेश्वरोऽप्यथागत आगत्य च तद्वृत्तान्तं श्रुत्वा कुपितस्तस्यमन्दिरं

त्रोटयित्वा तदुपरि"महजीत" इति यवन-भाषायां प्रसिद्धां शाला-विशेषां निर्ममे ॥ १० ॥

अर्थ—यवनेश्वर औरंगजेब भी वहाँ आकर और इसका वृतान्त सुनकर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उनका मन्दिर तुड़वाकर उसके स्थान में "मसजिद" नाम को यवन-शाला विशेष बनवा दी ॥ १० ॥

अथच गोमती-दक्षिणतटे महद्विशालं महाशक्तियुतं मूर्तियुगलमस्तीति किम्वन्तीं जानपदमुखेरितां शुश्राव। श्रुत्वा च तत्राजगाम। आगत्य च तन्मन्दिरम् स्फोटयित्वा अंकाब्ध्यगभूमिते वर्षे गोमत्यां चिक्षेप तन्मूर्ति-युगलमपि स्वकिंकरैः कोटितीर्थे मज्जयामास देवस्तु महापराधा भावान्न चुक्षुभे ॥ ११ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर उसने मनुष्यों से यह किम्वदन्ती (प्रचलित कथा,) सुनी कि गोमती के दक्षिण-तट पर एक महाविशाल मन्दिर है; और उस में महाशक्ति-शालिनी दो मूर्तियाँ हैं। यह सुनकर वह वहीं को चल पड़ा और पहुँचकर उस मन्दिर को तुड़वाकर नदी में फेकँवा दिया। यह घटना सम्वत् १७४६ (सन् १६९२ ई०)में हुई। वहाँ की उन दो मूर्तियों को भी नदी में नौकरों से गिरवा दिया। देवताओं ने भी उसका बहुत बड़ा अपराध न जानकर उस पर क्रोध न किया। अर्थात् देवता यह जानतेही थे कि यह मुसलमान था और उस के यह धर्म की बात थी, अतः क्षुब्ध वा क्रुद्ध न हुए। ॥ ११ ॥

एवं देव-द्वेषी देवान्विप्रकुर्वन्निजालयं जगाम अथचभुक्तभोगन्तमायुषोऽन्तऽब्धि-रसागभूमिते वर्षे सर्वसंहारी काल उपसंहृतवान् स च स्वकर्म-फल-भोभार्थं यमालयं जगाम यत्र पापिनो जना दराडेनैव शुद्ध्यन्ति ॥ १२ ॥

अर्थ—इस भाँति वह देवताओं का वैरी, औरंगजेब, देवमूर्तियों का अपमान करते हुए अपनी राजधानी को लौट गया। और इस तरह राज्य-भोगते हुए, आयुपूर्ण होने पर, सम्वत १७६४ वि० (सन् १७०७ ई०) में, सर्व-नाशक काल के गाल में समा गया; और जहाँ पापी लोग

अपने कर्मानुसार दण्ड पाकर शुद्ध होते हैं, उस यमालय को कर्मफल भोगने के लिये गया ॥ १२ ॥

अथाग्रे यद्वृत्तान्तं तत्तु पद्यै र्निवध्यते ॥ १३ ॥

अब आगे का वृतान्त पद्य-वद्ध करते हैं ॥ १३ ॥

स यदा विनिमज्ज्यहि मूर्तियुगं, स्वनिवासमगात्ततएव दिनात् ।
शनकैः शनकैः प्रविलुप्तमभूदतितीर्थममुष्यमहत्वमपि ॥ १४ ॥

अर्थ—वह जिस दिन दोनों मूर्तियों को डुबाकर अपने घर गया, उसी दिन से धीरे-धीरे इस तीर्थ का महत्त्व भी लुप्त होने लगा । ॥ १४ ॥

विदुषी जनता निमिषेण हृता बलिना कलिना जनधीश्च हता ।
इतिहास-पुराण-कथा-विगता, यत एवमतोऽस्य गता महिता ॥ ५ ॥

अर्थ—उस समय की विदुषी (विद्वान्) जनता (जनसमूह) को भी बलवान् कलिकाल ने अपने चक्र में डालकर धूल में मिला दिया; लोगों की बुद्धि भी जाती रही; इतिहास, पुराण की कथायें भी अब न रह गईं; अतएव इसकी महत्व-कथा भी लुप्त हो गई—अन्तर्हित हो गई ॥१५॥

शिव-नयन-वसु-ग्लौ सम्मितं वर्षपूगं,
पयसि सुरभिमत्या ऊषतुः कोटितीर्थे ।
हरि-पवन-सुतौ द्वौ हर्ष-शोकान्वितौ तौ,
न विदुरिह यथार्थं केपि तौऽज्ञानभावात् ॥ १६ ॥

अर्थ—इस प्रकार श्री मद्वराह जी और हनुमान जी, हर्ष और खेद युक्त, गोमती के जल में १८३ वर्ष तक रहे, पर अज्ञान के कारण उन्हें यथार्थ में कोई भी न जान पाया ॥ १६ ॥

उपरि गदित-काले त्वेकवर्षेऽवशिष्टे,
द्विहर-नयन-रन्ध्रज्यामिते सुन्दराब्दे ।
इति मनसि वभूवाविर्भवेयं सदासो—
जनपदज-जनानां पुण्यपुञ्जादमुष्य ॥ १७ ॥

अर्थ—उक्त कथित समय में (१८३ वर्ष में) जव एक वर्ष शेष रह गया, अर्थात् १६३२ संवत् में, तो, इस देश के मनुष्यों के पुण्य-प्रभाव से, श्रीमद्वराहजी के मन में यह आया कि अव अपने दास हनुमानजी के साथ वाहर निकलना चाहिये ॥ १७ ॥

अथाचलानन्द गिरिर्हिनाम्ना यतिर्यतीनां प्रवरोऽविमुक्तात् ।
समागतस्तत्रशिवेरितोज्ञो जनानुकम्पार्द्रधियानरोषात् ॥ १८ ॥

अर्थ—इसके वाद काशी से, शिवजी से प्रेरित हो कर, यतियों में श्रेष्ट अचलानन्द गिरि नामक सन्यासी लोगों के कल्याण के लिए वहाँ पहुँचे ॥ १८ ॥

स हि चचार जनैरति सत्कृतः कतिपयेषु पुरेष्वनुगोमतीम् ।
क्षिति-सुरै रघुवंशवरैरपि प्रकटयन्निगमम् परिवत्सरम् ॥ १९ ॥

अर्थ—उनका रघुवंशीय राजाओं ने तथा ब्राह्मणों और ग्रामीण मनुष्यों ने खूब आदर-सत्कार किया; और वे भी उनको उनके धर्म की वातें, वेदादि शास्त्रों को वताते हुए, गोमती के निकटस्थ कितने ही ग्रामों में परिभ्रमण करने लगे ॥ १९ ॥

गतेऽब्दे ततो गोमतीयाम्यकूले,गतोऽसौ कदाचित्परेच्छानुचारी ।
शिव-स्थानमेकं हि तत्रास्ति रम्यं, स तस्मिन्निवासंचकारक्षपायाम्॥२०॥

अर्थ—इसके अनन्तर, एक वर्ष वीत जाने पर, वे महात्मा, दूसरों के अनुरोध करने पर, गोमती के दक्षिण तट पर एक वार गये। वहाँ एक परम रमणीक शिवालय था। वस, रात को वहीं रम रहे ॥ २० ॥

अथाश्रुत्य सर्वे जना ग्राम-वासा निषाद-प्रधानाः सवृद्धार्भकास्तम् ।
विदोषं सदोषाः कुसंसार-भीता-स्समीयुस्ततोमुंप्रणेमुर्मुदाकैः ॥२१॥

अर्थ—यह वात सुनकर उस ग्राम के सभी, वालक से लेकर वृद्ध तक, मनुष्य और मुख्यतः धीवर लोग आये। वे इस हिंसाद्वेषमय सन्सार की विषम-व्याधियों से बड़े ही व्यथित, अतः नाना दोषों से युक्त थे। सवों ने उन परम ब्रह्मासक्त, सम्पूर्ण दोषों से निवृत्त स्वामीजी को पाकर, अत्यन्त हर्षित होकर, शिर से प्रणाम किया ॥ २१ ॥

लब्धाशिषोयतिवरादथ ते निषेदुस्तस्याज्ञया च जरठाःस्वयमेवचोचुः ।
अस्तीति मूर्त्तिरुदके किल धेनुमत्याः कापीह दीर्घतरपीवर-धर्मयुक्ता॥२२॥

अर्थ—सन्यासि-श्रेष्ठ श्रीमदचलानन्द गिरि गोस्वामी से आशीर्वाद पाकर वे अत्यन्त प्रसन्न हुए; और उनकी आज्ञा पाकर अपने आप ही वृद्धों ने कहा—"महात्मन् ! इस गोमती के जल में एक मूर्ति है। वह सन्सार में सब से बड़ी और मोटी प्रतीत होती है" ॥ २२ ॥

श्री गुरुरुवाच ।

श्रुत्वा वचांसि स तदा तदुदीरितानि,
ध्यात्वा मुमूर्त्तमथ सम्प्रतिपद्य सर्वम् ।
तेभ्यःपुरोक्तमखिलं त्वथ राज-वृत्तं,
श्रीकोटितीर्थ-सहितं शुभदं सहोचे ॥ २३ ॥

अर्थ—तब उनकी ऐसी बातें सुनकर श्रीस्वामी जीने एक क्षण मात्र ध्यान किया और तत्क्षणही सारी बीती हुई बातें जान गये; तथा उन सब राजावों के भूत-वृतान्त को—श्री कोटि तीर्थ के महात्य के सहित—उन्हें सुना दिया ॥ २३ ॥

ते त्वथ श्रवणजातकौतुका मूर्ध्नि बद्धकरकञ्जसम्पुटाः ।
प्रोचुरेनमथ सर्वशस्तदा न्यासिनाम्बरमिति प्रहर्षिताः ॥ २४ ॥

अर्थ—श्री स्वामी जी के मुख से ये वृतान्त सुनकर वे परम प्रसन्न हुए। सबों ने हाथ जोड़कर, पृथ्वी पर माथा टेक कर, हर्ष युक्त होकर, प्रणाम किया और बोले—॥ २४ ॥

श्रीवराह-पवन-प्रसूतयोर्गोमती-भुवनतो निकासने ।
आज्ञया तव यतामहे प्रभो ! तत्र कञ्चनसहायमाचर ॥ २६ ॥

अर्थ—"हे स्वामिन् ! हम लोग श्री मद्वराह और श्री हनुमान जीको श्री गोमती से निकालने के लिये आपकी आज्ञा पाने की प्रार्थना करते हैं, और कुछ सहाय भी माँतते हैं। कृपया हमारी यह विनय स्वीकार हो।" ॥ २५ ॥

तोषामाकरार्यव चः स महात्मा तानाह दासवर्य्यान् ।
भो भो धीवर-मुख्याः ! सार्धप्रहरा गता रजनी ॥ २६ ॥

अर्थ—उनकी बातें सुनकर उन महातमा जी ने उन्हें सम्बोधित कर के कहा—"अरे धीवरो ! ६ घण्टे रात्रि बीत गई ॥ २६ ॥"

शयनं क्रियतामधुनास्मदाज्ञया सहतनूज-वृद्धैर्वः ।
अहमपिशयेऽथ सर्वं विमर्शयिष्याम एतच्छ्रवः ॥ २७ ॥

अर्थ—"अब जावो, और बूढ़े-बच्चों सहित सोओ। मैं भी सोऊँगा। इन सब बातों पर कल विचार किया जायगा" ॥ २७ ॥

इत्युक्तास्तेत्वमुं नतिंकृत्वा, गत्वा स्वान्निकेतनान् ।
सुषुपुस्सुषुपे यमीप्यसौ श्रीवराहं विचिन्तयन् ॥ २८ ॥

अर्थ—ऐसा कहना सुनकर सब लोगों ने स्वामी जीको प्रणाम किया और घर जाकर शयन किया। स्वामी जी भी श्री मद्वराहजीका ध्यान करते हुए शयन करने लगे । ॥ २८ ॥

अथ रात्रौ तम् प्रतिस्वरूपं कर्मन्दिवरं दर्शितवान् ।
अन्यदुर्ल्लभं स हरिः स्वयं कोट्यादित्यसन्निभम् ॥ २९ ॥

अर्थ—इस के पश्चात् आधी रात्रि को श्री भगवान् ने अन्यों को सर्वथा अप्राप्य, कोटानुकोटि सूर्य्यों के समान प्रकाशित स्वरूप उस सन्यासि—प्रवर को दिखाया ॥ २९ ॥

दृष्ट्वा स्वप्ने तमतिविस्मितो गतयं च ज्योतिषिवै ।
"जय जय करुणाकर ! विश्वतनो ! जय नरसूकर-वपुः ! ॥३०॥
"नमो नम" इत्यसकृदुत्क्वा स तृष्णीं वभूव तस्य महसा ।
इतः परं नक्षम आसद्रष्टुं वक्तुमतिमानम् ॥ ३१ ॥

अर्थ—स्वप्न में भगवान् की इस प्रकार की ज्योति देखकर वे विस्मित हो गये और सहसा बोल उठे—"हे करुणा के घर ! तुम्हारी जय हो।" और बार बार "नमो नमः" इत्यादि कहकर उस तेज में चुप हो गये। इस के बाद फिर उस ज्योति को न तो देख सके न कुछ कह सके॥ ३० ॥ ३१ ॥

अथ बभूव सातिशोभना वियतिवाक्पयोदनिःस्वना ।
श्रवणमात्रमङ्गल-प्रदा निखिलदुःख-जालनाशिनी ॥ ३२ ॥

अर्थ—और तव अत्यन्त पवित्र, सम्पूर्ण दुःखों को नाश करने वाली, श्रवणमात्र सेही कल्याण दान करने वाली, बादल के समान आकाश-वाणी हुई । ॥ ३२ ॥

श्रीभगवानुवाच ।

शृणु यते ! ममानुशासनं, परम मङ्गल-प्रदायकम् ।
वहिरसानि कोटितीर्थकात्सहनुमानिहैषिसात्त्विकः ॥ ३३ ॥

अर्थ--श्री भगवान् ने कहा—"हे यतिवर्य्य ! परम कल्याणमयी मेरी आज्ञा सुनो; मैं हनुमान् के साथ इस कोटि--तीर्थ के जल से बाहर निकलना चाहता हूँ" ॥ ३३ ॥

गुरुरुवाच ।

एवंवाणींनभसिभवां स श्रुत्वोन्मील्याम्बुकयुगलम्वै ।
पश्यन्नाशादश चकितोसौ नो संचेष्टे किमपि तदानीम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—गुरुजी ने कहा—उस समय इस प्रकार की आकाश वाणी सुनकर, यतिवर्य्य ने चकित होकर अपनी दोनों आँखे खोली, और दशो दिशाओं में देखा; पर कुछ भी विचार न कर सकें, अर्थात् विचारने पर "कि यह कैसी वाणी हुई ?" कुछ भी न जान पड़ा ॥ ३४ ॥

उत्थायादौ मनसि महात्मा ध्यात्वा देवं सुरमुनि-सेव्यम् ।
उच्चार्य्यातो हर इति तारं, कर्त्तुं यातः स उषसि कृत्यम् ॥३५॥

अर्थ—अतः उस महात्मा ने पहले उठकर सुर-मुनि-सम्पूजित देव का ध्यान किया; और तब उच्चस्वर से "हरे, हरे" कहते हुए प्रातः कृत्य करने चले गये ॥ ३५ ॥

सम्विधाय विधिवत्त्वथ सर्वं शौचमाचरणहस्तविशुद्धिम् ।
कोटितीर्थमवगाह्य च तस्मिन्स्नानमाचरदसावति हृष्यन् ॥३६॥

अर्थ—इसके अनन्तर उस ऋषि ने यथा विधि शौच कर्म किया और हाथ-पाँव शुद्ध करके, अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक, उस तीर्थ में पैठ कर स्नान किया ॥ ३६ ॥

सोऽभिषिच्य मनसा स्मरयित्वा ब्रह्मशान्तमचलं गतमानम् ।
शिक्षयन्निगमवर्त्मजनेभ्यः शम्भु-पूजनमथाकृतविज्ञः ॥३७॥

अर्थ—और तब उन्होंने स्नान करके अभिमान रहित, शान्ति स्वरूप ब्रह्म का ध्यान किया; फिर मनुष्यों को वेद-मार्ग की शिक्षा देते हुए उस महाज्ञानी यति ने श्री शिवजी की पूजा की॥३७॥

कृत्वासपर्य्यां विधिपूर्वकां विभो ध्यात्वा महेशं पुरुषार्थदं सताम्।
तारंश्रुतेः सारमनादिमव्ययं चित्तं समाधाय ततो जजाप सः ॥३८॥

अर्थ—व्यापक ब्रह्म की विधिवत् पूजा करके; और सज्जनों को पुरुषार्थ दान करने वाले श्री महादेवजी की ध्यान-योग से अर्चा करके, अनादि और चिरस्थायी वेदों के सारभूत मन्त्र—प्रणव, "ओ३म्"—का, उच्चस्वर से, अपने मन को वश करके, जाप करने लगे ॥३८॥

अथ तत्रागतः कश्चित् क्षत्रियो गौतमान्वयी ।
स ददर्श तमासीनं जपन्तं मुनिमक्षरम् ॥३९॥

अर्थ—वहाँ पर कोई गौतम वंशीय क्षत्रिय आपहुँचा। उसने उस परमासनासीन अनन्त भगवान् के ध्यान में निमग्न मुनि को देखा ॥ ३९ ॥

स तमथ मुनिवर्य्यमात्मवन्तं परम समाहितमानसो विधिज्ञः ।
प्रणतजन-शरण्यमार्चयद्वैपदकमले च ननाम तस्य मूर्ध्ना ॥४०॥

अर्थ—और तब उस समाहित हृदय और विधि को जानने वाले आचार्य्य के दोनों पद-कमलों की, अपना मस्तक नवाकर, वन्दना की ॥ ४० ॥

अथ स शिरसि वद्ध-हस्तकंजस्तमवदद्दाप्तसदाशिषोतिहृष्टः ।
यतिवर मम गेहमद्य सार्थं कुरु जनिमन्वयमाशतं पवित्रम् ॥४१॥

अर्थ—तदनन्तर उन्होंने हाथ जोड़ कर शिर से प्रणाम किया और श्री स्वामीजी ने उन्हें सुन्दर आशीर्वाद दिया। तब उन्होंने अतिशय आनन्दित होते हुए कहा—"स्वामिन्! आज कृपया हमारे घर को, हमारे बच्चों समेत, अपने शुभागमन से पवित्र कीजिये।"॥४१॥

इत्थं तेन निमन्त्रितस्स परमप्रेम्णा गतस्तद्गृहं,
तम्वीक्ष्यागतमुत्थितं स्वकमसुं प्रेष्ठं पुनः प्राप्नुवन् ।

प्रत्युत्थानमथाभिवादनमथो कृत्वा च नीत्वा गृहं
दत्वा चासनमुत्तमं स परया भक्त्यास्य चाक्षालयत् ॥४२॥

अर्थ—इस प्रकार उनसे निर्भ्रान्त हो कर स्वामीजी उनके घर गये। वे उन्हें अपने घर आया देख कर, इतने प्रसन्न हुए कि मानो परम इष्ट प्राणीही आ गया। फिर उठ कर खड़े हो गये और यथाविधि प्रणामाभिवादन किया। तब अत्यन्त आदर भाव से उन्हें घर में ले जाकर, सुन्दर आसन पर बिठलाकर उनके पादपद्मों का प्राक्षालन किया ॥ ४२ ॥

पादौ तत्परमादरेण स सुधीर्दध्रे स तंत्रस्स्वके
यत्पीतं परिशोधकं हि मनसो न्नृणाम्पुमर्थ-प्रदम् ।
कृत्वा संपरिपूजनं च विधिवद्दत्वा सदन्नं ततः
पानीयं च सुधोपमं स पुरतो बद्धाञ्जलिस्तस्थिवान्॥४३॥

अर्थ—और जिस परम पवित्र परिशोधित जल के पान करने से मनुष्यों को पुरुषार्थ प्राप्त होता है, ऐसे स्वामी के चरणोंदक को उस विद्वान् क्षत्रिय ने अपने माथे चढ़ाया और शास्त्र की रीति से उन महात्मा की पूजा करके अमृतुल्य सुन्दर भोजन और वैसा ही पवित्र जल, भोजन और पान करने के लिये, दिया। फिर प्रीति पूर्वक, हाथ जोड़ कर, सामने खड़े हो गये॥ ४३ ॥

भुक्त्वा सुधान्न-समवाप्त-तृप्तिं ततः समाचांतममुं स दत्वा ।
शुद्धिं मुखाम्भोजवरस्य नत्वा पदारविन्दे समवाप कामम् ॥४४ ॥

अर्थ—अमृत के तुल्य भोजन कर चुकने पर तृप्ति को प्राप्त हुए उस सन्यासी प्रवर ने आचमन किया और तब क्षत्रिय-भक्त ने मुख शुद्धि देकर उस कमल के सदृश मुख वाले ऋषि के पादारविन्दों की, सफल काम होकर, बन्दना की ॥ ४४ ॥

दत्वाशिषं तां ह्यशनाय चाज्ञामथाजगामासनमात्मवित्सः ।
तह्यागतास्ते कृतसंविदो ये, गतेन्हिचान्येऽपि निषादमुख्याः ॥ ४५ ॥

अर्थ—फिर जब उस आत्मा की गति को जानने वाले महात्मा ने उन्हें आशीर्वाद और भोजन करने की आज्ञा दी और आप अपने स्थान पर आये, तो उस दिन के वृत्तान्त कहने वाले, और दूसरे भी मुख्य-मुख्य केवट उनके साथ वहाँ उपस्थित हुए॥ ४५ ॥

अथ ते विधाय नतिमस्य पदाम्वुजयो र्भवाम्वुधितरीसमयोः ।
तदनुज्ञया च समुपाविविशुः कृतसत्क्षणा मुनिवचः श्रवणे ॥ ४६ ॥

अर्थ—उनके संसार-सागर को पार करने के लिये नौका-रूप-चरणों की वन्दना करके और उनकी आज्ञा पाकर इच्छापूर्वक उनके बचन सुनने के निमित्त बैठ गये ॥ ४६ ॥

अथ तानुवाच परमहंसवरः प्रमिताक्षरांगिरमुदारमनाः ।
स यथारविन्दजनिरात्मनीन्निटलाम्वकश्च हि यथाद्यमुनीन् ॥४७॥

अर्थ—सत्य रहने वाले वचन ठीक उसी प्रकार कहने लगे जैसे ब्रह्माजी ने ऋषियों से और निटलाम्वक ने आदि मुनियों से कहा था ॥ ४७ ॥

मस्कर्य्युवाच—

हन्त शृणुध्वं खलुममवाणीं, हे सुजना वः पर-सुख-खानीम् ।
यर्हि भवन्तः स्वगृहमपीता-स्तर्ह्यशयं विमृशान्निह नक्तम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—महर्षि ने कहा – हे सुजनो ! मेरी परम-सुख-प्रदान करनेवाली वाणी को सुनो; जब आपलोग घर चले गये तो मैंने भी उसी विषय पर विचार करते हुए रात्रि को शयन किया ॥४८॥

ततस्स देवः प्रणतार्तिहारी, स्वप्ने स्वरूपं सुमनोर्थकारी ।
कोट्यंशुमालिप्रमहोतिचारि, प्रदर्शयामास ममासुरारिः ॥ ४६ ॥

अर्थ—तब शरणागतों के कष्टों को निवारण करने वाले, सारी अभिलाषाओं के पूरक दैत्यों के विनाशकारी देव ने, मुझे सप्न में, कोटि सूर्य्य के समान प्रकाशमान् अपना रूप दिखाया ॥ ४६ ॥

दृष्ट्वा वराहस्य तद्भुतंत्वहं रूपं सुदुर्दशतमं कुयोगिभिः ।
संजातहर्षो न शशाक चेक्षितुं मामाह देवोऽथगिरा गभीरया ॥५०॥

अर्थ—श्रीमद्वराहजी का यह अद्भुत रूप, जो कुयोगियों के लिये सर्वथैव अप्राप्य है, देख मुझे इतना आनन्द प्राप्त हुआ कि उनके दर्शन के लिये आँखे खोलने को भी न हिल सका। तब भगवान् ने गम्भीरवाणी से मुझे सम्बोधित करके कहा ॥ ५० ॥

श्रीभगवानुवाच—

परमहंस शृणु मेऽनुशानं परमशर्मकरमस्यते हितम् ।
वहिरसानि सहवायुसूनुना परमपुण्य-जलकोटि-तीर्थतः ॥ ५१ ॥

अर्थ—श्रीभगवान् ने कहा—"हे परमहंस ! अत्यन्त आनन्द कारिणी और अपने हित की आज्ञा सुनो। मैं इस पवित्र-जल-वाले तीर्थ-कोटि से, पवनपुत्र, हनुमान, के साथ, बाहर निकलना चाहता हूँ ॥ ५१ ॥

निमित्त-मात्रं भव तत्र हे यते ! यशस्ततस्ते सुमहद्भविष्यति ।
इतीरयित्वोपरराम सा गिरा, न याल्पपुण्यैः श्रवणाय लभ्यते ॥५२॥

अर्थ—अतएव, हे यते, तुम उसमें निमित्तमात्र हो जाओ; इससे तुम्हारा बड़ा भारी यश होगा।" इतना कह कर वह कमपुण्य वालों से न सुनी जाने वाली परमवाणी बन्द हो गई ॥ ५२ ॥

प्रत्युत्थायाथाहं तमेवादिदेवं शुद्ध-स्वान्ते सञ्चिन्तयन्सम्विधातुम् ।
प्रातःकृत्यं भिक्षावसानं प्रयातः कृत्वातत्सर्वं संस्थितोस्म्याप्तचितः॥ ५३ ॥

अर्थ—हे लोगो ! प्रातःकाल मैंने उठकर, उन आदि देव का स्मरण करते हुए, नित्यः कर्म किया और अब भिक्षादि करके सुचित हो बैठा हूँ ॥ ५३ ॥

श्रीगुरुरुवाच—

इति निखिलमुदं तमाकरार्य ते प्रमुदित-वदनात्परिव्राजकात् ।
प्रमुदित-वदना वभूवुस्ततः पुनरपि स उवाच तान्संयमी ॥ ५४ ॥

अर्थ—काशीस्थ गुरुजी ने अपने शिष्य से कथा का प्रसंग ही करते हुए कहा—इस प्रकार उस प्रसन्न-मुख सन्यासी से यह सारा बृतान्त जान कर वे बड़े ही प्रसन्न हुए। तब फिर भी वह संयमशील यति उनसे कहने लगा—॥ ५४ ॥

यतिरुवाच—

इति सर्वं समाख्यातं मया वः कुलनन्दनाः ।
अत्रेति कृत्यतां सर्वे कथयन्तु यथामति ॥ ५५ ॥

अर्थ—हे अपने २ कुलको आनन्दित करने वालो ! मैंने तो सारा वृतान्त आप लोगों से कह सुनाया; अब यथाबुद्धि बताइये कि इस विषय में क्या करना चाहिये, और वही कीजिये भी ॥ ५५ ॥

श्रीगुरुरुवाच—

इत्याकरार्य वचस्तस्य ते मुनिवरस्य निखिल-कैवर्त्ताः ।
सर्वेऽथ वभूवस्संतूष्णीं द्विजगण इव दिनान्ते ॥ ५६ ॥

अर्थ—फिर गुरु जी ने अपने विद्वान शिष्य से कहा—उस मुनिवर्य्य के इस प्रकार के वचन सुन कर वे सारे केवट संध्या समय के पक्षियों के समान चुप हो गये ॥ ५६ ॥

तेष्वस्ति कश्चिद्गुहवंश्य एको रामादिदासान्तपदाभिधेयः ।
सोऽथाह तं न्यासिवरं सुधीमान् तं शान्तमासीनमुमार्द्धगेहे ॥ ५७ ॥

अर्थ—उनमें एक-गुह-वंश-जात परम बुद्धिमान् "रामदास" नाम का पुरुष था। उसने उस शिवालय में शान्ति-चित्त-बैठे हुए सन्यासी महाराज से यों कहना आरम्भ किया—॥ ५७ ॥

रामदास उवाच—

इतोविदूरेऽन्तक-दिग्विभागे पुरं सुपूर्णं सुजनैर्हिवर्त्तते ।
तस्मिन्वसत्यर्थिमनोभितोषकृत्सम्यग्जितारिः प्रबुधानुचारी ॥ ५८ ॥

अर्थ—यहाँ से थोड़ी ही दूर पर, दक्षिण दिशा में, सुजनों से भरा-पूरा एक नगर अवस्थित है। उसमें मांगने वालों की इच्छा पूर्ण करने वाले, सम्पूर्णतया अपने शत्रुओं पर विजय करने वाले, और विद्वानों के आज्ञाकारी—॥ ५८ ॥

श्रीमत्पतंग-कुल-वार्द्धि-हिमांशुकस्य, श्रीमद्रघोः सुविततान्वयराज-मौलिः।
सर्वेषु भूतनिकरेषु परात्मदृष्टिः, क्षत्रर्षभो हि रघुनन्दनसिंहनामा॥ ५९॥

अर्थ—सूर्य्य-कुल-समृद्धि-वर्द्धक-महाराज रघु के वंशजों में शिरस्स्थान देने योग्य, सम्पूर्ण जीवों पर सुदृष्टि रखने वाले, क्षत्रिय-कुल-श्रेष्ठ श्रीमान् रघुनन्दनसिंह नाम के एक क्षत्रिय महानुभाव रहते हैं॥ ५९॥

तमाकारयित्वेह संश्रावय श्वो भवद्वक्त्र-जातोक्ति-कंज-द्विरेफम्।
यथा नो भवद्भिः समुक्तं पुरस्तात्तथा सर्व-वृत्तं च यत्स्वापजं तत्॥६०॥

अर्थ—स्वामिन्! जिस भाँति यह वृतान्त आपने हमलोगों के सम्मुख कहा है, उसी प्रकार कल उन्हें यहाँ बुलाकर, आपके मुख-रूप-कमल से निकली हुई मधुरतारूप-बातों को भवरेँ के समान ग्रहण करने वाले रघुनन्दनसिंह से ये सारी बातेँ कहिये, और जो उपाय हो उसका भी विधान कीजिये॥ ६०॥

शिष्य उवाच--

एवं तदाकरार्य वचो महात्मा कैवर्त्तमुख्यस्य समाहितात्मा।
किं संचकाराथ गुरो स विज्ञः सर्वं समाख्यातु भवान् हि तज्ज्ञः॥६१॥

अर्थ—इतनी कथा गुरुजी के मुख से सुनकर, शिष्य ने आकुलीभाव से फिर पूछा—हे ज्ञानमान् गुरो! अब बताइये कि उस समाहित चित्त-और ज्ञानी महात्मा ने उस गुहश्रेष्ठ की बातें सुनकर क्या किया॥ ६१॥

श्रीगुरुरुवाच--

तदुदीरितमादरादलम्वै, सुसमाकर्ण्य वचोमहार्थलंवै।
तमुवाच पुनर्मनोहरं वै, वचनं न्यासिवरोऽप्यसत्वरंवै॥ ६२॥

अर्थ—श्रीगुरुवार्य्य ने अपने जिज्ञासु शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए फिर कहना प्रारम्भ किया—"तब उन यति-वर्य्य ने, उस केवट के महार्थमयी विशेष गिरा को, आदर पूर्वक, सुन कर, पुनः धीरे-धीरे उससे मनोहर वाक्य कहना आरम्भ किया॥ ६२॥

यतिरुवाच---

इतोंवसन्सप्रातस्त्वरितमिहिगत्वा च शिवदं,

ममाशीर्वादं तं प्रतिवद् वदान्यं रघुवरम् ।

अमुं भूयोब्रूयानयनमनसीसुश्रुतिरपि

लभंतां सशुद्धिं मुनिवरदृशैरद्य त इति ॥ ६३ ॥

अर्थ—सन्यासी-प्रवर ने कहा—यहाँ से बहुत सवेरे शीघ्रही जाकर कल्याण देने वाले मेरे आशीर्वचनों को उस दानशील रघुकुल-श्रेष्ट से कहो। और उनसे यह भी कहो कि मैं उनसे कल मिलना चाहता हूँ॥ ६५ ॥

इत्थं वाचं यमोक्तामखिल-जन-हितां वाचं स मतिमान्

संश्रुत्वा रामदासः शमधन-चरणौ नत्वाशुशुभदौ ।

वद्धाहस्ताब्जयुग्मं यमिवर-वदनं सर्वाशुभहनम्

पश्यन्नाहाथ तां स्वामपि च परिषदं हृष्यन्सुवदनाम्॥ ६४ ॥

अर्थ—उस यमनियम-युक्त योगी की संसार का कल्याण करने वाली वाणी को सुनकर उस बुद्धिमान् केवट रामदास ने ऋषि के सम्पूर्ण शुभों को देने वाले चरणों की शीघ्र ही वन्दना की; और अपने दोनों कमल के समान हाथों को जोड़कर, मुनि श्रेष्ट के सारे पापों को हनन करनेवाले मुख तथा अपनी प्रसन्न वन्दना-मण्डली की ओर देखकर, कहना प्रारम्भ किया--॥६४॥

रामदास उवाच--

"स्वामिन् ! प्रभाते भवतोऽनुशासनात्

गन्तास्मि तत्राखिल-कार्य्य-सिद्धये ।"

इत्थं स विज्ञाप्य मुनिं स्वकेतनं,

नत्वास्य पादाब्जमगान्महात्मनः ॥ ६५ ॥

अर्थ—"स्वामिन् ! आपकी आज्ञा से, कल प्रातः कालही, समस्त कार्य्य की सिद्धि के निमित्त, मैं वहाँ जाऊँगा।" इस भाँति वह उस मुनिको जनाकर, और उनके चरणों में शिर नवाकर, अपने घर चला गया ॥ ६५ ॥

तस्मिन्प्रयातेऽथ निषादनन्दने, सर्वे निषादा अपि तं प्रणम्य ते।
स्वं-स्वंहिवेश्म प्रतिजग्मुरुत्सुका भुक्त्वाथ भोज्यं सुषुपुः सुखंगताः ॥६६॥

अर्थ—उस निषाद-वंश के आनन्द-स्वरूप रामदास के चले-जाने पर, अन्य निषादों ने भी उन्हें प्रणाम करके अपने अपने घर की वाट ली। वहाँ उन उत्सुकों ने भोजन करके सुख-पूर्वक शयन किया ॥ ६६ ॥

अथ गतेषु निषाद-जनेषु स शिव-गृहे-न्यवसत्परिचिन्तयन्।
अखिल-यज्ञ-तनुं शिवमव्ययम् सकल-विश्व-जनिं निरुपाधिकम् ॥६७॥

अर्थ—अब, उन सब केवटों के चले जाने पर उस महात्मा ने, अखिल-यज्ञ-तनु, कल्याण रूप, अव्यय, सम्पूर्ण जगत के पिता और उपाधि-रहित अनन्त भगवान् की परिचिन्तना करते हुए, उस शिवालय में निवास किया ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्वराह-चरित्रे गोमतीप्रक्षेप पूर्वक श्रीवराह-हनुमतो मूर्तिनिः
सरण-विमर्शो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥
इस प्रकार चतुर्थ सर्ग सम्पूर्ण हुआ।

पञ्चमः सर्गः ।

श्रीगुरुरुवाच---

अथ प्रभाते प्रविधाय सर्वं शौचादिकार्य्यं स हि रामदासः ।
ध्यात्वा वराहञ्च मुनिं प्रणम्य ग्रामं गतो घोटक-धावनाख्यम् ॥ १ ॥

अर्थ—अब, उस रामदास ने प्रातःकाल उठ कर, शौचादि कर्म से निवृत होकर, श्रीभगवान् वराहजी का ध्यान किया और मुनि श्रेष्ट को प्रणाम करके "घोड़-दवर"-नामक ग्राम को चल दिया ॥ १ ॥

तस्मिन्गतेऽथ स यमी जन-संग्रहेप्सुः,
स्नानादि कृत्यमकरोन्न च तत्फलेप्सुः ।
नित्यं विधाय नियतात्ममनः शरीरः,
सस्मार संस्टति-हरं हि परं च धीरः॥ २

अर्थ—उसके चले जाने पर, उस कृत-यम-नियम, लोगों के संग्रह की इच्छा करने वाले यति ने, फल की वाञ्छना से रहित होकर, स्नानादि नृत्य-कर्म किया । इस प्रकार सुस्थिर-चित्त होकर संसार के क्लेशों से छुड़ाने वाले और इसकी रचना करने में चतुर परमात्मा का ध्यान करने लगे ॥ २ ॥

यावदुदेयिवान्भानुः कुर्वँल्लोकं सचेतनम् ।
रामदासोऽप्ययात्तावद्रघुनन्दन-केतनम् ॥ ३ ॥

अर्थ—जिस समय सूर्य्य ने उदय होकर संसार को सचेत किया, उसी समय रामदास भी रघुनन्दनसिंह के घर पहुँच गया ॥ ३ ॥

गत्वा तत्र तमवन्दत नैजगोत्रं, स्वाहूतप्रोसममतिस्फुटमुच्चरन्सः ।
दृष्ट्वा तं कृतनतिं रघुनन्दनोऽथ प्रावोचच्च कुशली भवसीत्यरेत्वंम् ॥ ४॥

अर्थ—वहाँ जाकर उसने रघुनन्दनसिंह को स्फुट स्वर से अपनी जाति के अनुसार प्रणाम किया। उसे इस प्रकार विनीत देखकर रघुनन्दनसिंह ने पूछा—"अरे ! कहो कुशल-पूर्वक तो हो?" ॥ ४ ॥

श्रीगुरुरुवाच—

एवं स पृष्ट्वा कुशलं महामना भूयस्तमाहाथ किमर्थमद्यभोः !
प्रातस्समायात इति प्रलक्षये त्वां हर्ष-संयुक्तमहं मुखेन ते ॥ ५ ॥

अर्थ—गुरुजी ने कहा—इस प्रकार उससे कुशल-प्रश्न करके, फिर उस महामना ने उससे पूछा—"कहो, आज इतने सबेरे ही क्यों आये ? मैं तो तुम्हें तुम्हारे मुख से अत्यन्त हर्षित देखता हूं।" ॥ ५ ॥

इत्येव पृष्टो रघुनन्दनेन स प्रोवाच तस्मै श्रवणामृतं वचः ।
श्रीमद्वराहस्य पदाम्बुजं हृदि ध्यायँस्त्रिधातापोपहरं परं शिवम् ॥ ६ ॥

अर्थ—रघुनन्दनसिंह के इतना पूछने पर, उसने त्रैतापों को हरण करने वाले, श्रेष्ठ, कल्याण-स्वरूप श्रीमद्यज्ञवराह के चरणों का हृदय में ध्यान करते हुए, सुनने में अमृत के समान मधुरवाणी कहना आरम्भ किया—॥ ६ ॥

रामदास उवाच—

भगवन्नहमत्र भवद्गुरुणा, भवतो निकषा प्रहितोऽस्मि ततः।
स हि वांछति तत्र भवद्गमनं, सुभवेत्तवतेन समागमनम् ॥ ७ ॥

अर्थ—रामदास ने कहा—"श्रीमान् ! मैं आपके गुरु भगवान् का भेजा हुआ यहाँ आया हूं। वे आपका आगमन चाहते हैं, और यह भी कि आपका और उनका समागम हो।" ॥ ७ ॥

गुरुरुवाच--

निशम्य वाचं हृदयंगमात्मामात्मीय-भाग्यं वहु-मन्यमानः ।
आह प्रमोदाप्तमनाः स धीमान्, संश्लाघयन्नात्मभवं भवेऽस्मिन्॥ ८॥

अर्थ—श्रीगुरुजी बोले—उसकी यह हृदय में धारण करने योग्य बात सुनकर, रघुनन्दन सिंह अपने भाग्य की प्रशंसा करते हुए फूले न समाये। फिर, इस संसार में अपने जन्म-की प्रशंसा करते हुए, मारे प्रसन्नता से भरकर, उस बुद्धि-निधान ने कहा—॥ ८ ॥

रघुनन्दन उवाच--

अहो वयं श्लाघ्यभवाः शरीरिणां, न नोऽद्य भाग्यं फणिनापि वर्णितुम् ।
सुशक्यमाज्ञां श्रयतां महात्मनां, स्वनुष्ठता या प्रददाति दुर्ल्लभम् ॥९॥

अर्थ—"अहह ! आज समस्त शरीर-धारियों में हम लोग बड़े ही प्रशंसनीय हैं ! महात्माओं की सुन्दर आज्ञों का पालन करते हुए, हम सब के भाग्य का यथार्थ—वर्णन (वखान) सहस्र-शीश-धर, शेषनाग, से भी नहीं हो सकता !!" ॥ ९ ॥

इत्युक्त्वा तमाह धीवरवरं, दासं निदेशं करम् ।
भ्रातस्तावदिहास्यतां कुरु कथां कांचित्परार्थाश्रयाम् ॥
यावद्भैक्ष्यमहं निषाद ! रुचिरं, दारैरहस्साधय-
तत्संगृह्य ततो हि तत्र भवतैष्यामोधुनैवेति सः ॥ १० ॥

अर्थ—उन्होंने उस धीवर-श्रेष्ठ से ऐसा कह कर फिर कहना आरम्भ किया—"भाई, जब तक मैं स्त्रियों से थोड़ी दिन की रुचिर भिक्षा तैय्यार करवाता हूँ, तुम तब तक यहीं बैठ कर कुछ परार्थ—सम्बन्धिनी कथा-वार्ता करो; और तव मैं तुम्हारे साथ अभी उसे लेकर चलता हूं।" ॥ १० ॥

गुरुरुवाच ।

ततः पाचयित्वा सुपक्वान्न-मिष्टं, समादाय मिष्टैरमत्रैः सुमिष्टम् ।
स तत्राजगामाशु दासेन सार्द्धं, स्वभक्तैः स यत्रास शिष्यैश्चसार्द्धम्॥११॥

अर्थ--गुरुजी बोले, इसके अनन्तर सुन्दर मीठा पक्कान्न बनवा कर और मीठा ही अचार लेकर, अपने सेवकों, भक्तों, शिष्यों और रामदास के साथ श्रीस्वामीजी के सन्निकट चल दिया ॥ ११ ॥

गत्वा तत्र निधाय भक्ष्यममलं, स्थल्यां शुभायां सुधी-
र्गत्वा धेनुमती-सुतीरमथ स प्रक्षाल्य हस्तांघ्रिकौ ।
कृत्वा चाचमनं तमेत्य विधिवन्नत्वास्य पादौ मुदा,
बद्ध्वा पाणिजलेरुहौ मधुरया चाहेरया धीरया ॥ १२ ॥

अर्थ --वहाँ जाकर, उस विद्वान् क्षत्रिय ने सुन्दर परिष्कृत स्थली पर उस पवित्र भक्ष्य को रख दिया और गोमती तीर जाकर अपने हस्त-पादों का प्रक्षालन किया। तदनन्तर आचमन करके उस ऋषिवर के समीप पहुँचे, तथा विधिपूर्वक, प्रसन्नमानस होकर, उनके चरणों में प्रणाम किया। उपरान्त अपने कमलवद् हाथों को जोड़ कर, अत्यन्त धीर-गम्भीर और मधुर भाषा में, बोले--॥ १२ ॥

रघुनन्दन उवाच---

स्वामिन् ! भिक्षा मयानीता, सद्यो ह्युष्णतायुता ।
जमने यद्विलम्बस्याद्रसोऽतीता भवेत्प्रभो ! ॥ १३ ॥

अर्थ --"हे स्वामिन् ! मैं अभी गरम-गरम भिक्षा लाया हूं। यदि, प्रभो !, भोजन करने में देर होगी, तो वह कुरस हो जायगी।" ॥ १३ ॥

श्रीगुरुरुवाच---

आकार्ण्य प्रार्थनां तस्य, स दयानीरधिः सुधीः ।
धौत-करांघ्रिराचम्य, भिक्षामकृत-रुद्धवाक् ॥ १४ ॥

अर्थ--श्रीगुरु जी बोले--उनकी यह प्रार्थना सुनकर, दया के महासमुद्र उस विद्यामान् ऋषि ने हाथ-पाँव धोकर, आचमन करके, चुपचाप भिक्षा का भक्षण किया ॥ १४ ॥

ततः समाचम्य निगृह्य शुद्धिं मुखारविन्दस्य तमाह योगी ।
महाप्रसादं समशान वत्स ! प्रदेहि शेषं हि जनाय चास्मै ॥ १५ ॥

अर्थ—तदुपरान्त भली प्रकार आचमन करके उस ऋषि ने अपने कमल के समान मुख की शुद्धि ली; और, तब उनसे कहने लगे—"वत्स ! इस महाप्रसाद को तुम भक्षण करो और बचे हुए को इन मनुष्यों के लिये दे दो।" ॥ १५ ॥

तथेति चाज्ञां स निधाय मस्तके यथाधिकारं प्रविभज्य भागवित् ।
जनाय शेषं स्वयमाददादरान्नृणां हि यस्याशनमाशयाघहृत् ॥ १६ ॥

अर्थ—और इस आज्ञा को शिरोधार्य्य करके, उस विभाग करने की प्रणाली को जानने वाले रघुनन्दनसिंह ने अधिकार के अनुसार, उस महाप्रसाद के कई भाग कर डाले। और फिर, पावनमात्र ही से प्राणियों के पापों को नाश करने वाले योगिदत्त-प्रसाद को, शेष मनुष्यों में, स्वयं ही बाँट डाले ॥ १६ ॥

ततस्समाचम्य विशुद्ध-बुद्धिमान् स रामदासः सविधे महात्मनः ।
उपाविशद्बद्धकरस्सनम्रकः, स सर्व-लोकोऽस्य विलोकयन् मुखम् ॥ १७ ॥

अर्थ—तब, अच्छी तरह आचमन करके, वह विशुद्ध-बुद्धिमान्, रामदास, महात्माजी के समीप जा, हाथ जोड़, अधोमुख, करके बैठ गया, और सब लोग उसका मुख देखने लगे ॥१७॥

ज्ञात्वा तु हार्दं रघुनन्दनस्य स प्रोवाच तस्मै समुदन्तमादितः ।
पौराणिकं स्वापनिकं च कृत्स्नशः, श्रुत्वाथ सोऽप्याप मुदं स सर्वकः ॥१८॥

अर्थ—अब, वह श्रीमान् रघुनन्दनसिंह की हार्दिक इच्छा जानकर, उस पुरानी और नई सम्पूर्ण कथा को, आदि से लेकर अन्त तक, कह गया। उसे सुनकर वे भी पूर्णतया आनन्दित हुए ॥१८॥

आश्रुत्य सर्व-वृत्तांतं, रघुनन्दन-पूर्वकाः ।
ते के कृत-कराम्भोजाः, प्रोचुरेनं समुत्सुकाः ॥ १९ ॥

अर्थ—रघुनन्दनसिंह इत्यादि समुत्सुक जनों ने, इस सम्पूर्ण रहस्य को जान, अपने-अपने हाथ जोड़, कहा—॥ १९ ॥

जना ऊचुः--

श्रीवराहेच्छया विद्वन् ! भवतोऽनुग्रहाद्विभो !
भवेन्निःसरणं मृत्योः सर्व-मंगल-दायकम् ॥ २० ॥

अर्थ—सब लोगों ने कहा—"हे विद्वन् ! हे स्वामिन् ! श्रीमद्यज्ञवराह महाप्रभु की इच्छा और आपकी करुणा से इन दोनों मूर्तियों का निकाला जाना, सब प्रकार से, कल्याण—प्रद ही होगी॥ २० ॥

धन्यभाग्या भविष्यामस्तदा जनपदैर्वयम् ।
अतो निःसारणे चाज्ञां शीघ्रं स्वामिन् ! विधीयताम् ॥ २१ ॥

अर्थ—"और हम सब लोग, अपने देशवासियों के साथ, धन्य-भाग्य हो जाँयगे । अतएव, हे स्वामिन्, कृपया शीघ्र ही मूर्तियों के निकालने की आज्ञा प्रदान कीजिये ।"॥ २१ ॥

गुरुरुवाच---

श्रुत्वाथ प्रार्थनां तेषां प्रोवाच न्यासिनाम्बरः ।
भारतीं परमोदारां शृण्वतां श्रवणामृताम् ॥ २२ ॥

अर्थ—श्रीगुरु भगवान् बोले—उनकी यह प्रार्थना सुन कर, सन्यासियों में श्रेष्ट-भूत सन्यासी ने अत्यन्त उदार, सुनने वालों के कानों को अमृत के समान मीठी लगने वाली वाणी में कहना आरम्भ किया—॥ २२ ॥

यतिरुवाच—

उपायेनैव कार्य्याणि सिद्धन्ति न मनोरथैः ।
उपायोऽतः प्रवक्तव्यो भवद्भिः कार्य्य-कोविदैः ॥ २३ ॥

अर्थ—"केवल कामना ही से कार्य्य नहीं सिद्ध होता; उपाय से होता है । अतः आप कार्य्य में पटु लोगों को उपाय सोचना और करना चाहिये ।" ॥ २३ ॥

गुरुरुवाच—

इति तद्वाक्यमाकर्ण्य जोषमासन्सभासदाः ।
रामदासस्तदोवाच वाक्यं वाक्यविदाम्वरः॥ २४ ॥

अर्थ—श्रीगुरुजी ने कहा—उनके ऐसे वचनों को सुनकर, पूजा करने वाले सभासदों में से वाक्य विशारदों में श्रेष्ट रामदास ने यह वाक्य कहा ॥ २४॥

रामदास उवाच—

उपायं सम्प्रवक्ष्यामि, स्वामिन् ! सकल-सम्मतम् ।
स्वल्पायासेन येनात्र कार्य्य-सिद्धिर्भविष्यति ॥ २५ ॥

अर्थ—"हे स्वामिन् ! सुनिये, मैं सर्वानुमोदित उपाय बताता हूँ, जिससे थोड़े ही प्रश्रिम में कार्य्य—सिद्ध हो जायगा ॥ २५ ॥

एष वै सर्व-कार्य्याणि कर्त्तुं शक्तो महाजनः ।
वार्त्ता संप्रेषणे चैव ग्रामे-ग्रामे-गृहे-गृहे ॥ २६ ॥
वादित्र-मेलने चैव, पट-शणस्य संग्रहे ।
सम्मेलने सहायस्य, सर्वत्र कुशलोह्यसौ ॥ २७ ॥
एनमाज्ञापय स्वामिन् ! राजर्षिं पुरतः स्थितम् ।
रघु-श्रेष्ठं सतां मान्यं, वदान्यं रघुनन्दनम् ॥ २८ ॥

अर्थ—"इसी उपाय से महापुरुष सब काम कर सकते हैं। गाँव—गाँव और घर—घरमें इसकी वार्त्ता भेजिये, तथा सन, पटुवा का संग्रह करवाइये, एवं जहाँ—तहाँ सहायता की अपील कीजिये; और आपके सामने ही रघु-कुल शिरोमणि, राजर्षि, विद्वानों में पूज्य और दानी रघुनन्दनसिंह खड़े हैं। हे स्वामिन, इन्हें आज्ञा दीजिये, सब ठीक ही हो जायगा"॥२६॥ २७॥ २८॥

गुरुरुवाच—

इति श्रुत्वा वचस्तस्य रामदासस्य धीमतः ।
रघुनन्दनमाहेदं मुनिः सर्वार्थ-सिद्धये ॥ २९ ॥

अर्थ—श्रीगुरुजी बोले—बुद्धिमान् रामदास की यह बात सुनकर, सब काम की सिद्धि के हेतु, मुनि महामना ने रघुनन्दनसिंह से ये बातें कहीं— ॥ २९ ॥

मुनिरुरुवाच---

वत्सेतो याहि भद्रं ते स्वगृहं सर्व-सिद्धिमत् ।
गत्वाचत्तारमाहूय वार्त्ता-हरण-कोविदम् ॥ ३० ॥

वृतान्तं प्रेषयस्व त्वं, ग्रामेष्वासन्नवर्तिषु ।
श्रीगोमत्या यमाशयां देशे परम पावने ॥ ३१ ॥
ख्यातो रामगढ़ोनाम्ना ग्रामोस्ति बहु-धीवरः ।
महामहोत्सवस्तस्मिन् श्वः प्रभाते भविष्यति ॥ ३२ ॥

अर्थ--"हे वस ! तुम्हारा मंगल हो । तुम अब यहाँ से जावो और समाचार ले जाने में चतुर नाइयों को बुलाकर, आसपास के गावों में यह समाचार भेजवादो --कि गोमती के किनारे वाले पवित्र देश में, मल्लाहों से भरापूरा रामगढ़ नामक, एक गाँव है। कल प्रातःकाल वहाँ एक महोत्सव होने वाला है ॥ ३०, ३१, ३२ ॥

स्वभू-हनुमतोर्मूर्त्यो गोमती-वारि-मध्यतः ।
संप्रादुर्भावरूपो वै जगतां वश्च शर्मकृत् ॥ ३३ ॥
भवद्भिस्तत्र गन्तव्यं सबाल-जरठैरिति ।
अथ ब्रूया नरान्सर्वान्वादित्र-कुशलांल्लघु ॥ ३४ ॥

अर्थ—"उसमें तुम्हारा और समस्त संसार का कल्याण करने के लिये परमात्मा और श्री हनुमान्‌जी की मूर्त्तियाँ, गोमती के जल से, उद्भूत होगीं। अतएव आप सब लोगों को, बाल-बच्चों और बुड्ढों समेत, वहाँ चलना चाहिये" ॥३३॥३४॥

वीणादि-वादने-दक्षा ये च भेर्य्यादि-वादने ।
मृदंग-पणवादीनां वाद्यानां वादने क्षमाः ॥ ३५ ॥
श्वः प्रभाते प्रगच्छन्तु तत्र सर्वे सवाद्यकाः ।
वेतनं च वृषंचैव यथा-भाग्यमवाप्स्यथ ॥ ३६ ॥

अर्थ—"और, तब, वह चर वाद्यकारों से कहे कि जो वीणा, भेरि, मृदंग, ढोल इत्यादि बाजों के बजाने में कुशल हैं, वे कल प्रातःकाल वहाँ उपस्थित हों; उन्हें उचित वेतन और भोजन दिया जायगा ॥ ३५, ३६ ॥

इति चत्तारमादिश्य स्वयं च रघुनन्दन !
स्वगृहाद्बहु-संगृह्य प्रतिग्रामं गृहाद्गृहात् ॥ ३७ ॥

किंचित्किंचिच्च संचित्य पट-शएयस्य भूरिद ।
भाराणां दशकं शीघ्रं प्रभाते प्रेषयस्व भोः ॥ ३८ ॥
प्रातरेवात्र गन्तव्यं बन्धुभिश्च समन्त्वया ।

अर्थ—"हे रघुनन्दन ! नाइओं को ऐसी आज्ञा देकर, तुम स्वयं कुछ अपने घर से, और कुछ-कुछ, प्रत्येक ग्राम के घरों से सन-पटुवा बटोर कर, कल सवेरे दश भार यहाँ भेजवाओ, और तुम भी, अपने बन्धु-बान्धवों समेत, तड़के ही पहुँचो।" ॥ ३७, ३८ ॥

श्रीगुरुरुवाच—

इत्याज्ञां मस्तके धृत्वा, प्रणम्य च पुनः पुनः ॥ ३९ ॥
मुनि-पुङ्गव-पादाब्जं, जगाम स्वं निकेतनम् ॥ ४० ॥

अर्थ—श्रीगुरुजी बोले—इस आज्ञा को माथे पर चढ़ाकर और मुनि-श्रेष्ठ के चरण कमलों को बार बार नमस्कार करके, वे अपने घर चले गये ॥ ३९, ४० ॥

गृहं गत्वा यथाज्ञप्तं न्यासिनां प्रवरेण वै ।
तथा सर्वं चकारासौ बुद्धिमान् धर्म-तत्परः॥ ४१ ॥

अर्थ—घर जाकर, दण्डियों में श्रेष्ठ की आज्ञा के अनुसार ही उस धर्म-निष्ठ, बुद्धिमान क्षत्रियर्षभ ने किया ॥ ४१ ॥

अथाह रामदासोऽपि प्रयाते रघुनन्दने ।
नमस्कृत्य मुनिश्रेष्ठं, वद्ध-किष्कुः पुरः स्थितः ॥ ४२ ॥

अर्थ—अब, रघुनन्दनसिंह के चले जाने पर, रामदास ने भी, हाथ जोड़कर, मुनिवर्य्य को प्रणाम कर, सम्मुख खड़ा होकर, कहा—॥ ४२ ॥

रामदास उवाच—

मुनिवर ! संशृणु हन्त वचोमे श्व उससि सर्व-विधिञ्च विधास्ये ।
अथ निखिला हि निषाद-समूहाः निज-निजकेतनमीयुरितोवै ॥ ४३ ॥

अर्थ—"हे मुनिवर्य्य ! मेरी हर्षमय-वाणी सुनिये । अब, मैं कल सवेरे सारे विधानों को पूरा करूँगा; अतः अब यहाँ से यह केवटों का सारा समाज, अपने अपने घर, जाय ॥ ४३ ॥

अथ मानुशासय विभो! गृहं स्वकं मुनि-पुंगव ! प्रति सुसद्य एमि वै ॥

श्रीगुरुरुवाच---

इति याचितो हि मुहुरादरेण वै स तमाह यात्विति भवान् गृहन्त्वितः॥४४॥

अर्थ—"और, हे मुनि-पुंगव ! मुझे भी आज्ञा दीजिये कि शीघ्र ही घर जाऊँ ।" श्रीगुरुजी ने यह कथा अपने शिष्य से कह कर कहा—उसके आदरपूर्वक बार बार यह आज्ञा माँगने पर, ऋषि ने आज्ञा दे दी—"अच्छा आप भी अपने घर जांय ।" ॥ ४४ ॥

इत्याज्ञां निखिल-निषाद-वर्य्य-वृन्दाः
श्रुत्वा ते निज-निज-निकेतनानि चाशः ।
प्राप्यान्नं च खदुरथामृतोपमं वै,
संतृप्ताः सुषुपुरतिप्रहृष्यमाणाः ॥ ४५ ॥

अर्थ—निषादों का सारा श्रेष्ठ समुदाय यह आज्ञा सुनकर अपने-अपने गृह गया और वहाँ अमृत के समान अन्न-भोजन कर, अत्यन्त तुष्ट और प्रफुलित-हृदय हो, शयन किया ॥ ४५ ॥

अथ विगते च धीवरगणे, स मुनिस्सुषुपे ।
हृदि विगतान्धकार-पटले, च विमत्सरके ॥
निखिल-विकार-जात-रहितं, स्वकरूपमजं ।
विगत-विभेदमाद्यविधुरं च विचिन्त्य शिवम् ॥ ४६ ॥

अर्थ—अब, उन धीवरों के घर चले जाने के अनन्तर, मुनिजी भी, समस्त विकारों से रहित, विश्व-रूप, अजन्मा, विगत-भेद, संसार के आदि-भूत, मङ्गलकर, भगवान् का ध्यान, अपने मत्सर-हीन, प्रकाशमय-हृदय में, करते हुए, शय्यागत हुए ॥ ४६ ॥

इति श्रीमद्वराह-चरित्रे, वराह-हनुमतोर्मूर्त्ति-निःसरण-
समुद्यमो नाम पञ्चमस्सर्गः ॥ ५ ॥

इस प्रकार पाँचवां सर्ग समाप्त हुआ ।

षष्ठः सर्गः ।

श्रीगुरुरुवाच—

अथ प्रभाते सुधियां स चाग्रणी-र्विहाय निद्रां सुविशुद्ध-मानसः ।
विचिन्त्य साक्षात्पर-तत्वमव्ययं, विधाय शौचं समवस्थितोऽभवत् ॥ १ ॥

अर्थ—श्रीगुरुमहाराज ने अपने जिज्ञासु शिष्य से पुनः कथारम्भ की—हे वत्स ! प्रातः काल होते ही वह विद्वानों में अग्रगण्य विशुद्ध-चित्त सन्यासी, नींद छोड़कर उठा और साक्षात्पर-तत्व, नित्य, परमेश्वर का स्मरण करते हुए, शौचादि नित्य-क्रिया से निवृत हो, सुस्थिर होगया ॥ १ ॥

अथागतास्ते निखिला हि सज्जना गतेऽन्हि ये संज्ञपिता महोत्सवम् ।
दिदृक्षवस्सम्भृत-कौतुका अहो ! स-बाल-वृद्धा अति-हर्ष-संयुताः ॥ २ ॥

अर्थ—तब तक, गत-दिवस के महोत्सव की सूचना को पाये हुए, बाल-वृद्ध समेत, अत्यन्त हर्षोत्फुल्ल-हृदय, कौतुक-दर्शनाभिलाषी सम्पूर्ण सज्जन भी आगये ॥ २ ॥

अथाभियाताः पणवादि-वादका—
गृहीत-वाद्या अति-हृष्ट-मानसाः ।
ततो निषादा अपि संप्रसंगताः
सबाल-वृद्धा अति कौतुकान्विताः ॥ ३ ॥

अर्थ—और, उसी समय, ढोलादि बजाने वाले भी, अपने अपने बाजों के साथ अतिशय प्रसन्न-हृदय हो, पहुँचे। और, तभी, बूढ़े, बच्चों सहित सारे कौतुकान्वित लोग भी आ उपस्थित हुए ॥ ३ ॥

अथागतः सोऽपि वदान्य-भूषणः स्वकिंकरै र्भार-दश-प्रमाणकम् ।
पटादि-शारायन्तपदाभिधस्य वै, प्रगृह्य धीमान्मुनये न्यवेदयत् ॥ ४ ॥

अर्थ-और, तबतक, दानि-कुलावतंस श्रीमान् रघुनन्दन सिंह ने भी अपने सेवकों के साथ दस भारप्रमाण सन-पटुवे की रस्सियाँ लेकर, मुनि महात्मा के चरणों में आन समर्पित किया ॥४॥

अथाल्पुतास्तीर्थवरेऽति पावने, प्रजेपुरिष्टं निज-दैवतं हि ते ।
ततस्तु याता मुनिवर्य्य-सन्निधौ, प्रणेमुरङ्घ्रीशिरसास्य हर्षिताः ॥ ५ ॥

अर्थ-अब, उस पवित्र तीर्थ-कोटि में भरे हुए प्रसन्न मनुष्यों ने, अपने-अपने इष्ट-देवों को स्मरण करते हुए, दण्डि-श्रेष्ठ के समीप जाकर, उनके चरणों में शिर से प्रणाम किया। ॥ ५ ॥

प्रतस्थिरेऽग्रे निखिलानिमीलिता निरुद्धवाचो हि निबद्ध-पाणयः ।
अथाह तेषां पुरतो व्यवस्थितो रामादि-दासान्त-पदाभिधेयः ॥ ६ ॥

अर्थ—उस हाथ जोड़े, चुप-चाप सम्मुख खड़ी हुई जनता के अग्रभाग में अवस्थित रामदास ने (अर्थात् जिसके नामके आदि में "राम" और अन्त में "दास" ऐसा पद है) कहा— ॥६॥

रामदास उवाच—

स्वामिन्ननुज्ञां प्रददातु नो भवान्-
निस्सारणे मूर्ति-युग्मस्य चाशुवै ।

श्रीगुरुरुवाच—

इत्थं समाश्रुत्य यति-प्रधानो-
दाशप्रधानस्य मुखाग्-बाणीम् ॥ ७ ॥

आज्ञां स तस्मै प्रददौ महात्मा-
श्रुत्वाथ तां सर्व-जनाः प्रहृष्टाः ।

वभूवुरानन्द-परिप्लुतान्तरा-
वर्षाद्यथा सस्यमवर्ष-शुष्कम् ॥ ८ ॥

अर्थ—"हे स्वामिन् ! अब हमको मूर्तियों के निकालने की आज्ञा शीघ्रही प्रदान कीजिये"। गुरुजीने अपने शिष्य से यह बात कहकर फिर कहना शुरु किया—दाशों (मल्लाहों) में मुख्य, रामदास, की यह अनुनय विनय सुनकर, उन यतियों में श्रेष्ठ महात्माजीने उसे, उसके कथनानुसार, आज्ञा दे दी। यह सुनकर वहाँ के मनुष्यों में आनन्द का वारापार न रहा ! वे सूखे हुए सस्यों को वर्षण का सुख प्राप्त होनेवाले आनन्द के समान प्रसन्न हो आनन्द से भर गये॥७,८॥

अथाह सर्वान्स हि रामदासो निषाद-मुख्यान्गुह-बंश-मुख्यः ।
उत्थाय हे धीवर-वंश-जाताः ! निर्मान्तु रज्जूश्च विगृह्य शाणीम् ॥९॥

अर्थ—तब धीवरों में प्रधान, रामदास, ने अन्य तज्जातीय सरदारों से ललकार कर कहा—"हे धीवर-वंश में उत्पन्न हुए वीरो ! उठो, और सन लेकर रस्सियाँ बनाओ। ॥९॥

स्थौल्ये करैकास्तु प्रमाणतस्स्युर्दैर्घ्ये च ता हस्तचतुःशतंवै ।
आनाप्य काष्ठं तु ततस्सुपुष्टं हस्तद्वयं स्थूलमतीव सुन्दरम् ॥ १० ॥
दैर्घ्ये तथा हस्त-दश-प्रमाणकं, निर्माय तैलाख्यमथाशु यन्त्रम् ।
यतामहे सर्व-जनैरुपेता निष्कासने मूर्ति-युगस्य वै वयम् ॥ ११ ॥

अर्थ—वह मुट्ठीभर मोटी और चारसौ हाथ लम्बी हो। तथा एक दो हाथ मोटा एवं दश हाथ लम्बा सुन्दर और पुष्ट काठ लाकर तुरन्तही "तैल-यन्त्र" निर्माण करो; और, आओ हम सब लोग मिलकर, दोनों मूर्तियों के निकालने का यत्न करें"॥ १०, ११ ॥

श्रुत्वास्य वाणीं निखिला निषादास्ततः समुत्थाय तथैव चक्रुः ।
सर्वं सुसिद्धं मुनि-पुङ्गवाय ते निवेदयामासुरतीव नम्रकाः ॥ १२ ॥

अर्थ—उसकी ऐसी वाणी सुनकर, सारे धीवरों ने उठकर वैसाही किया। फिर, उन्हों ने महामुनि के समीप जाकर सब कुछ ठीक हो जाने का निवेदन किया ॥ १२ ॥

अथो समादाय समस्त वस्तु सार्द्धं हि ते भिक्षुवरेण सर्वे ।
जग्मुः स्म तीरं किल धेनु-मत्या अतीव कौतूहल-युक्त-मानसाः ॥ १३ ॥

अर्थ—तव सारी बस्तुओं को लेकर उन अतिशय कौतुक से भये हुए लोगों ने, भिक्षुकों में अग्रगराय सन्यासी के सङ्ग, गोमती-तीरको प्रस्थान किया ॥ १३ ॥

तत्रैव वाद्यानि सुवादितानि, वादित्र-विद्या-कुशलैर्नरैरहो !
चक्रुः समस्तानि महान्तमद्भुतं शब्दं मनोज्ञं श्रवाणामृतं वै ॥ १४ ॥

अर्थ—और अहह ! उसी समय, वाद्य-कला-विशारदों ने अपने मनोहर, कर्णप्रिय और सुन्दर, मधुर वाद्य-नादों से दिशाओं को भर दिया ॥ १४ ॥

श्रुत्वा निनादं खलु धेनुमत्यास्तीरे समस्ताः पशु-पाल-संघाः ।
आजग्मुरौत्सुक्य-समन्वितास्ते, विहाय नैजं पशु-वर्गमातुराः ॥१५॥

अर्थ—उस मधुर नाद का श्रवण करके गोमती-तीरस्थ सम्पूर्ण गो-चराने वाले अपने अपने पशुवों को छोड़कर, उत्सुकता से भरे हुए, दौड़कर वहाँ पर आ गये ॥ १५ ॥

तथैव चान्ये पुरुषा महेलाः सवाल-वृद्धा अति-हृष्यमाणाः ।
किमेतदाश्चर्य्यमितिब्रुवाणाः स्वं-स्वं हि कृत्यं परिहृत्य चागताः॥१६॥

अर्थ—इसी प्रकार, दूसरे लोग भी, अपने अपने कार्य्यों को छोड़कर, बच्चे-बुड्ढों समेत, परम प्रसन्न-चित्त, "यह कैसा आश्चर्य है ?" इत्यादि कहते हुए आ उपस्थित हुए ॥ १६ ॥

ततो निषादा निज-कार्य्य-कोबिदा-श्चख्नुः स्म गर्त्तं किल धेनु-मत्याः ।
तीरे सुकाठिन्य-गुणादि-युक्ते, हस्त-द्वयं गाधमतीव-गाढम् ॥ १७ ॥

अर्थ—तदनन्तर, अपने कार्य्य में पण्डित धीवरों ने, गोमती-तीर के कठिनतादि-गुणों से युक्त भूमि में, दो हाथ चौड़ा और अत्यन्त गहिरा एक गढ़ा खोदा ॥ १७ ॥

तस्मिन् समारोप्य च तैल-यन्त्रं,तस्थुश्च तूष्णीं निखिला निषादाः ।
ततः समुत्थाय स रामदासो नत्वा मुनीन्द्रांघ्रि-युगं प्रहृष्टः ॥ १८ ॥

ध्यात्वा बराहं निखिलार्थ-सिद्धिदं, प्रगृह्य रज्जुं कर-कञ्ज-मध्ये ।
विवेश वारि प्रहसन्प्रसन्नधीः श्रीधेनुमत्याः किलकोटि-तीर्थे ॥ १९ ॥

अर्थ—उसमें "तैल—यन्त्र" की स्थापना करके सब केवट चुप हो रहे। तदुपरान्त वह प्रसन्न बुद्धि रामदास उठा और प्रसन्न होकर मुनिवर के चरणों में शीश नवा, सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वाले श्रीमद्वराहजीका स्मरण करते हुए, श्रीगोमतीस्थ "तीर्थ-कोटि" के पवित्र जल में, हँसते हुए, प्रवेश किया ॥ १८, १६ ॥

ततो निमंज्याशु ववन्ध मूर्तिं श्रीमद्वराहस्य गुणेन गाढम् ।
वद्ध्वाथ चोन्मंज्य जलात्स धीरः प्रोवाच सर्वान्सुजनानवस्थितान् ॥२०॥

अर्थ—और, तव श्रीमद्वराहजी की मूर्त्ति को रस्सी से अच्छी तरह बाँध कर, उस धीर ने, पानी से वाहर निकलकर, वहाँ पर उपस्थित सज्जनों से कहा—॥ २० ॥

रामदास उवाच—

शृणवन्तु चैतद्वचनं मदीयं सर्वे भवन्तोऽवनि-देवमुख्याः ।
वद्ध्वा सुगाढं बसनादि-कृत्स्नं, ध्यात्वा बराहं स्वजनाभयप्रदम् ॥२१॥

अर्थ—"हे भू-देव-श्रेष्ठो ! आप लोग हमारी वात सुनिये। सव लोग अपने-अपने वस्त्र इत्यादि को भलीभाँति सँभाल, स्वजनों को अभय-दान करनेवाले श्रीवराहजी का ध्यान कर, और—॥ २२ ॥

नत्वा मुनीन्द्रस्य पदारविन्दं, प्रावर्त्तयध्वं परितस्सुयन्त्रम् ।
ततस्सुतीरं शनकैश्च यायात् स्वेच्छाविधेयः स हि देव-देवः॥ २२ ॥

अर्थ—"श्री मुनि महाराज के चरणारविन्दों को नमस्कार करके "तैल-यन्त्र" में लग जाइये। तत्पश्चात् अपनी इच्छा के अनुसारही कार्य्य करने वाले, वे देवताओं के भी स्वामी श्रीवराह जी, अपनी प्रतिमूर्ति रूप में, धीरे २ तीरपर आजायँगे" ॥ २२ ॥

श्रीगुरुरुवाच—

अथ स्व-संधां मुनिराह हृष्यन् यूयं शृणुध्वं सुजनाः सधीवराः ।
तीरे यदा यास्यति मूर्त्ति-युग्मं तदैव भिक्षां प्रयतः करिष्ये॥ २३ ॥

अर्थ—श्री गुरुभगवान् बोले—तब, प्रसन्न होते हुए, मुनिश्रेष्ठ ने अपनी प्रतिज्ञा कह सुनाई- "हे सुजनो ! हे धीवरो ! हमारी प्रतिज्ञा सुनो, जब दोनों मूर्तियाँ तट पर आजावेंगी, तभी भिक्षा करूँगा।" ॥ २३ ॥

श्रीगुरुरुवाच—

इत्यस्य वाणीं शपथं मुनेश्च श्रुत्वा द्वयं हृष्टतमा बभूवुः ।
जयेति शब्दं प्रविधाय धीवरा-विभ्रामयामासुरतीव यन्त्रम् ॥ २४ ॥

अर्थ—गुरुजी ने कहा—मुनि की यह वाणी और उनका यह शपथ सुनकर सब लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए; और धीवरों ने "जय-जय"-कार करके तैल-यन्त्र को अतिशय घुमाया ॥२४॥

वादित्र-शब्दैः सह संमिलित्वा ततस्स शब्दस्तुमुलो बभूव ह ।
द्यावा पृथिव्यौ विदिशो दिशश्च व्यनादयन्देव-निकेतमानशे ॥२५॥

अर्थ—वह शब्द, बाजों के निनाद के साथ मिलकर, पृथ्वी-आकाश, सम्पूर्ण दिशाओं और स्वर्ग में देवताओं के भवन को घोरतर-रूप से निनादित (शब्दायमान) कर दिया ॥ २५ ॥

श्रुत्वा निनादं सहसैव यक्षराट् समुत्थितः संभ्रम-युक्त-चेताः ।
आरुह्य धिष्ण्यं सहदार-पुत्रै--रायात्स देवः स्वगणैश्च साकम् ॥ २६ ॥

अर्थ—यक्षराट्, कुबेर, यह शब्द सुनकर, पुष्पक विमान पर स्त्री-पुत्र समेत चढ़, और अपने सेवकों को संगले, वहाँ आन उपस्थित हुए ॥ २६ ॥

तथैव देवो रजताद्रिनाथो, निशम्य शब्दं विजहौ समाधिम् ।
देवर्षि-मुख्यैः सनकादि-सिद्धैः संसेव्यमानो जगतामधीश्वरः ॥ २७ ॥

अर्थ—उसी भाँति, नारदादि देवर्षि, और सनक इत्यादि सिद्धजनों से परिपूजित, संसार के अधीश्वर, कैलास-पति, महादेवजी ने भी उस तुमुल शब्द को सुनकर, अपनी समाधि त्याग दी, और ॥ २७ ॥

आरुह्य नन्दिं गिरिजादि-संवृतः, संहार-कारी ह्यपि भक्त-वत्सलः ।
ब्रह्मादि-देवैरभिवन्दिताङ्घ्रिः समं गणैस्स्वैः सहसाजगाम ॥२८॥

अर्थ—फिर, विश्व-विनाशक, तिस पर भी भक्त-वत्सल, ब्रह्मादि देवताओं से अर्चित-चरण, भगवान् नन्दि-वृषभारोहण कर, एवं पार्वती इत्यादि से घिरकर, झट वहीं आ मिले ॥२८॥

प्रयाण-काले स ननाद ढक्कां प्रहर्षयन्देव-गणानुमेशः ।
ढक्कोद्भवं तं सुनिशम्य नादं, ज्ञात्वाथ हार्दं धनदस्य सख्युः ॥२६॥

अर्थ—चलते समय शिवजीने देवताओं को प्रसन्न करते हुए अपना डमरू बजाया था। उसका शब्द सुनकर और कुवेर के मित्र, शंकर जी, का हृद्गत समझ कर— ॥२६॥

जहर्ष देवः पुरुषोत्तमोऽसौ, विज्ञाय वृत्तं त्वथ देव-देवः ।
सस्मार मूर्तिं नर-सूकराकृतिं, जहास चोच्चैस्स्वजनान्प्रहासयन् ॥३०॥

अर्थ—पुरुषोत्तम देव भगवन् अतिशय प्रसन्न हुए; तथा अपनी मनुष्य और सूकर के आकारवाली मूर्तिका स्मरण कर, अपने भक्तों को हास्य करने का शुभावसर देते हुए, वड़े ज़ोर से हँसे ॥ ३० ॥

कृत्वाथ गोष्ठीं कमलालयादिभिर्महोत्सवं संप्रदिदृक्षुराद्यः ।
प्रगन्तु-कामः खलु मर्त्य-लोकं, पतत्रिराजं सहसा जुहाव वै ॥३१॥

अर्थ—और झटपट, लक्ष्मी के साथवाली स्त्रियों के साथ एक सभा करके, महोत्सव के देखने का निश्चय कर लिया एवं मनुष्य-लोक में आने के निमित्त, पक्षिराज, गरुड़ जी, को झट बुलवा भेजा— ॥ ३१ ॥

आकर्णार्य चाज्ञां स हेरः खगेश आगत्य तस्थौ पुरतः कृताञ्जलिः ।
उत्थाय देवोऽथ समारुहत्तं देव्या समेतो विहगेशमीशः ॥ ३२ ॥

अर्थ—ईश्वर की आज्ञा पाकर गरुड़ जी सम्मुख आ, हाथजोड़, उपस्थित हो गये; और भगवान् ने, लक्ष्मी सहित, जाकर उनपर आरोहण किया ।' ३२ ॥

दध्मौ स्व-शंखं स हि संप्रयाप्य्ञ्जलजोत्तमं पंचजनोद्भवन्तम् ।
असुरांगनानां हृदयानिदारयन्, व्यनादयन्रवंविदिशो दिशश्च ॥३३॥

अर्थ—उन्होंने, जल में उत्पन्न हुई वस्तुओं में सर्व श्रेष्ठ "पांचजन्य" शंख को, आकाश, पृथ्वी और सम्पूर्ण दिशाओं और उपदिशाओं को निनादित करते हुए, तथा दैत्यों की स्त्रियों के हृदयों को कँपाते हुए, बजाया ॥ ३३ ॥

श्रुत्वाथ देवो जगतां विधाता हरेः प्रयाणं स जहर्ष मानसे ।
अथोसमारुह्य मराल-वाहनं वाचा समं वेद-पुराण-संयुतः ॥ ३४ ॥
ब्रह्मर्षि-राजर्षि-सुरर्षि-वर्य्यैस्तथैव चान्यैर्निज-लोक-वासिभिः ।
संस्तूयमानः पथि तत्र-तत्र गन्धर्व-वर्य्यैः सहसा जगाम ॥ ३५ ॥

अर्थ—यह सुनकर कि भगवान् महोत्सव में जा रहे हैं, संसार-स्रष्टा, ब्रह्माजी, बहुत प्रसन्न हुए, और सरस्वती, वेद-पुराण की पुस्तकें, ब्रह्मर्षि, राजर्षि, देवर्षि और अन्य अपने पुर के निवासियों को साथ लेकर, स्ववाहन, हंस, पर सवार होकर मार्गभर गन्धर्वों से अपनी स्तुति सुनते हुए, झटित वहाँ आकर विराजमान् हो गये ॥ ३४, ३५ ॥

आलक्ष्य यानं जगतां पतीनां देवत्रयाणामथ शैलपक्षहा ।
आज्ञापयामास सुराधिपोऽसौ रथस्सुसज्जीक्रियतां ममेति ॥३६॥

अर्थ—इन संसार के तीनों—ब्रह्मा, विष्णु और महेश—स्वामियों के रथों को देखकर, पर्वतों के पक्षों को काटने वाले, सुरपति, इन्द्र ने अपने रथ के सजाने की आज्ञा दी ॥३६॥

श्रुत्वा स आज्ञाममराधिराजो युयोज चाश्वैरथमस्य मातलिः ।
युक्तं त्वथानीय रथं सदश्वै र्यन्ता तमाहाथ समाहितात्मा ॥३७॥

अर्थ—देवराज की आज्ञा सुनकर, उनके सारथी ने रथ में सुन्दर घोड़े जोते और उसे उनके सम्मुख लाकर, उस समाहितात्माने कहा— ॥ ३७ ॥

मातलिरुवाच—

रथोयं ते मयानीतः सदश्वैः सह शत्रुहन् !
आरुह्यास्मिंस्त्वया देव ! गन्तव्यं यत्र ते मनः ॥ ३८ ॥

अर्थ—"हे शत्रुहन् ! यह सुन्दर अश्वों से युक्त रथ मैं लाया हूँ। देव ! इस पर चढ़कर, जहाँ इच्छा हो, जाइये ।" ॥३८॥

इत्थं समाकरार्य वचः स्वयंतू रथं समारुह्य पुलोमपुत्र्या ।
समं तथा देव-पुरोधसा च इयेष गन्तुम् स हि वज्रपाणिः ॥३६॥

अर्थ—हाथ में वज्रधारण करनेवाले इन्द्र ने, अपने सारथी का यह वाक्य सुनकर पुलोम-पुत्री, इन्द्राणी, और देव-गुरु, बृहस्पति, को साथ ले, यात्रा का आरम्भ किया ॥३६॥

अथ दुंदुभयोर्नेदु र्जगुर्गन्धर्व-किन्नराः ।
ननृतुः सुर-वेश्याश्च, महदासीत्कुतूहलम् ॥ ४० ॥

अर्थ—अब दुन्दुभियाँ बजने लगीं; गन्धर्व और किन्नरों ने गान आरम्भ किया, और अप्सराओं का नाच भी होने लगा। इस प्रकार बड़ा ही कुतूहल मचा ॥ ४० ॥

श्रुत्वा समुद्योगमथामराणां, ज्ञात्वा क्षणेनैव समस्त-वृत्तम् ।
तुलायमारुह्य समंसमायात् स्वपार्षदैर्दूतगणैश्च धर्मः ॥ ४१ ॥

अर्थ—देवताओं के प्रयत्न और तैय्यारी का समस्त समाचार सुनकर और क्षणमात्र ही में जानकर, धर्मराज भी अपने वाहन महिष पर चढ़कर, तथा अपने सभासदों और सेवकों को साथ ले, वहीं पर आ गये ॥ ४१ ॥

स्वप्नं ददर्शाथ वरुणोऽपि नक्तं सर्वामरा विष्णु-मुखाः प्रयाताः ।
श्रीगोमती-तीरमतीवहृष्टा द्रष्टुं महाश्चर्य्यमिति स्म देवः ॥ ४२ ॥
ज्ञात्वा ह्युदन्तं निखिलार्थवित्वात् समारुहद्यानमतीवसुन्दरम् ।
अथाजगाम स्व-कुटुम्ब-संयुतः सर्वैः स्वकीयैः परिचारकैश्च ॥ ४३ ॥

अर्थ—वरुणदेव भी, विष्णु इत्यादि सभी देवताओं को रात को स्वप्न में गोमती के तीर, अत्यन्त आनन्दमय होकर, महाश्चर्य्य देखने आया हुआ देखकर, और सम्पूर्ण वृत्तान्त जान, शीघ्र ही यान पर चढ़, अपने कुटुम्ब तथा सेवकों आदि को साथ ले, वहाँ उपस्थित हो गये ॥ ४२, ४३ ॥

एवं सर्वाः समायाता देवताः स्व-स्व-धामतः ।
यज्ञ-मूर्त्तिं पयोमध्ये स्थितां ज्ञात्वा प्रहर्षिताः ॥ ४४ ॥

अर्थ – इस प्रकार समस्त देव-समाज, अपने-अपने धाम से, आ गया; और यज्ञवराह की मूर्त्ति को जल में स्थित जानकर, आनन्दित हुआ ॥ ४४ ॥

अथ ते सुराःसकलशं विधित्सवोऽ-गुणमाद्यमीशमजमव्ययं विभुम् ।
नुनुवुश्च नम्रशिरसः समाहिताः परम-प्रसन्न-हृदयाःसमुत्सुकाः ॥४५॥

अर्थ—इसके अनन्तर उन समाहितात्मा और हृष्टचित्त तथा समुत्सुक देवताओं ने उन सब का कल्याण करने वाले, गुण-रहित, जगदादि, सब के स्वामी, अजन्मा, अव्यय और सर्व-व्यापक ईश्वर को, नत-मस्तक हो, प्रणाम किया ॥ ४५ ॥

देवा ऊचुः---

अपाणि-पादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।
इत्यादि वेदा हि यमाहुरीशं, स देव-देवोऽस्तु हि नोऽक्षिगोचरः ॥ ४६ ॥

अर्थ—देवताओं ने हृष्ट होकर अपने हृदय में कहा—वह देव विना हाथ-पांव के ही चल-फिर सकता है, विना आँखों केही देखता है, और कान-रहित होकर भी सुनता है, इत्यादि कह कर, वेद जिसका सम्बोधन करते हैं-वही परमात्मा हमारी आँखों के सदैव सामने रहे ॥ ४६ ॥*

स वेत्ति वेद्यं न च तस्य विद्यते वेत्ता च कश्चिद्धिमतेरुमन्ता ।
यमाहुराद्यं पुरुषं पुरातनं सोऽयं सदा नोऽस्तु हि नेत्र-गोचरः॥ ४७ ॥

अर्थ—देवताओं ने फिर कहना आरम्भ किया—"वह देव सम्पूर्ण जानने योग्य वस्तुओं (समग्र जगत्) को तो जानता है; पर उसे न तो कोई जानने वाला ही है, और न किसी ने जान ही पाया है । अतएव जिसको बुद्धिमान् लोग आदि और पुरातन पुरुष कहते हैं, वही परमात्मा सदैव हमारे नेत्रों के सम्मुख विद्यमान रहे ॥ ४७ ॥

येनेषिता वागसवश्चरन्ति, यो विश्व-मूलो जगतामधीशः ।
स्रष्टा विधाता प्रलयाधिकारी सोऽस्तु प्रसादाभिमुखो हि शश्वत्॥४८॥

अर्थ—"जिस परमेश्वर की सत्ता से लोग बोल सकते हैं, जिसकी सत्ता से वायु—प्राणापानादि पंच प्राणों—की गति होती है, जो परमात्मा सन्सार का मूल है, जो सन्सार की सृष्टि, पालन और नाश करने का अधिकारी है, वहीं प्रभु सर्वदैव हमारे सम्मुख रहने की कृपा करे ॥ ४८ ॥

---

* इसका पूर्वार्द्ध "श्वेताश्वतरोपनिषत" का आधा मन्त्र है। इसका अनुवाद गोस्वामी तुलसी दासजी ने यों किया है--"पद-बिनु चलै, सुनै बिनु काना; कर बिनु कर्म करै बिधि नाना।"

स्वप्न-प्रबोधौ परिपश्यति स्वयं, सुप्तेषु सर्वेष्वसु प्रकाशते ।
यो हि स्वयं ज्योतिरखण्ड एकः स सर्वसाक्ष्यस्तु हि नोऽक्षिगोचरः॥४६॥

अर्थ—"जो भगवान् सोते-जागते सबको देखता है, और सब के सो जाने पर भी स्वयं प्राण स्वरूप हो प्रकाशित रहता है, और जो जगदीश्वर अकेला, अखण्ड और ज्योतिर्मय है, वही सर्व साक्षी परमात्मा सदैव हमारे नेत्रों के सामने रहे" ॥ ४६ ॥

गुरुरुवाच—

इति स्तुत्वा जगन्नाथं देव-देवं वृषाकपिम् ।
बद्ध-श्लोकैरसन्तुष्टा निगदेनस्तुवन्तिकम् ॥ ५० ॥

अर्थ—श्रीगुरु महाराज ने कहा—देव-गणों ने इस प्रकार छन्दोबद्ध वाक्यों से देवों के देव विष्णु की स्तुति तो की; पर इससे उनकी सन्तुष्टि न हुई । अतएव उन्होंने फिर कहना आरम्भ किया ॥ ५० ॥

जय जयाजित ! जय जयार्तार्ति-हर ! जय करुणाकर ! जय निर्गुण-सगुण-स्वरूप ! जय मायया जगदुत्पत्ति-स्थिति-प्रलय-विधायक! जय जय भक्त-वत्सल ! जय जयामित-गुण-गणाकर ! जय जयासुर-वृन्द-दव-दाव! जय जयाज, भव हर्य्यात्मक!जय शक्ति-तत्कार्य्यास्पृष्ट ! आविराविर्भवास्माकं सर्व-जनानां चाक्षि-विषयो भवतु भवानिति ॥ ५१ ॥

अर्थात्—

"हे कभी भी न जीते जाने योग्य ! तुम्हारी जय हो, जय हो । हे आर्तों की विपद् को नाशन-हारे! तुम्हारी जय हो, जय हो । हे अगुण और सगुण भगवान्! तुम्हारी जय हो, जय हो । हे अपनी माया से विश्व के निर्मायक, पालक, और घालक ! तुम्हारी जय हो, जय हो । हे भक्त-जनों पर प्रीति करने वाले स्वामी ! तुम्हारी जय हो, जय हो । हे अगणित गुणों के नायक ! तुम्हारी जय हो, जय हो । हे दुष्टों के समूह-रूप-बन के नाश करने वाले दावानल-स्वरूप!तुम्हारी जय हो, जय हो । हे अजन्मा, भव, हरि और सबके आत्मा ! तुम्हारी जय हो, जय हो। हे शक्ति और उसके कार्य्यों के पोषक ! तुम्हारी जय हो, जय हो । और हमारी रक्षा करो, रक्षाकरो । हे विश्व-तनो ! हम सब प्राणियों के आप चक्षु-विषय हों' ॥ ५१ ॥

इत्यभिष्टूय भूमानं तूष्णी तस्थुः समुत्सुकाः ।
आविर्भावमभीप्सन्तो देवस्यास्याद्भुतं सुराः ॥ ५२ ॥

अर्थ—इस प्रकारसे शीघ्रही प्रकट होने वाले देवकी स्तुति करके, उनके आविर्भाव के देखने की इच्छा से, समुत्सुक देवतागण, शान्त होकर खड़े हो गये ॥ ५२ ॥

तथैव सर्वे स्थिर-जंगमादयो ग्रहाश्च नद्यश्च सरित्समुद्राः ।
स्वं-स्वं हि कार्य्यं प्रविहाय तस्थुराविर्भवं चास्य निरीक्षमाणाः ॥५३॥

अर्थ—उसी भाँति सम्पूर्ण चराचर-जगत्—आकाशीय-पिराड, नदियाँ, सरितायें और समुद्रादि—अपना-अपना कार्य्य छोड़कर शान्त रूप हो गये, और उस देव-देव के निस्सरण की प्रतीक्षा करने लगे ॥ ५३ ॥

आदाय वासन्तिक-पुष्प-गन्धं सुशैत्य-युक्तान्हिमशीकरांश्च ।
ववौ स्म वातोऽपि सुगन्ध-गामी स्वस्थं समासीद्धि जगत्समग्रम् ॥५४॥

अर्थ—उसी शान्ति के युग में वसन्त-कालीन-पुष्प-गन्ध से गन्धित, हिम के छोटे-छोटे शीतल कणों से मिले हुए, सुगन्ध-वाही पवन ने भी अपने मन्द-मन्द-सञ्चार की अद्भुत समा बाँध दी—सम्पूर्ण भुवन शान्तिमय और स्वस्थ-रूप में स्थित हो गया ॥ ५४ ॥

सु-भ्राम्यमाणे त्वथ तैल-यन्त्रे नृभिर्वलिष्ठैश्च ससर्प मूर्त्तिः ।
श्रीमद्वराहस्य शनैःशनैस्सा तीरे समासन्नतरा वभूव ह ॥ ५५ ॥

अर्थ—उसी समय, उस भली-भाँति से घूमने वाले "तैल-यन्त्र" पर, बलवान् मनुष्यों के बल से, श्रीमद्यज्ञवराह की मूर्ति, धीरे-धीरे चलकर, तीरे के अत्यन्त समीप आ गई ॥ ५५ ॥

तदैव चाभ्यहन्यंत देवैर्वाद्यान्यनेकशः ।
जगुर्देवर्षि-गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरो गणाः ॥ ५६ ॥

अर्थ—उसी समय, देवताओं ने अपने-अपने बाजों को अनेकों वार बजाया; नारदादि मुनियों और गन्धर्वों ने गान किया और अप्सरावों ने नाचना आरम्भ किया ॥ ५६ ॥

तथात्र वाद्यानि सुवादितानि दत्तौ र्नरैश्चित्ररवाणि शश्वत् ।
जयेति शब्दोऽप्युभयत्र-चासीत् ममौ न मोदोंऽएडकटाहमध्ये ॥ ५७ ॥

अर्थ—तथा, उसी समय यहाँ के सांसारिक वाजे भी चिरकाल के चतुर और वाद्यकला से आश्चर्य्यान्वित कर देने वाले मनुष्यों द्वारा वजाये गये; एवं दोनों लोक—स्वर्ग और मर्त्य—में "जय-जय" का महानाद भर गया, तथा ब्रह्माण्ड-मण्डल भर में आनन्द न समाया ॥ ५७ ॥

राम-त्रिशूलपक्ष नवेन्दु-सम्मिते, वर्षेऽति रम्ये शुभखेचरान्विते ।
मासोत्तमे माधव-मास-मध्ये पक्षे सिते धातृ-तिथौ शुभायाम् ॥ ५८ ॥

मध्यान्ह-काले विशदेऽति शोभने, प्रादुर्बभूवास्य हिताय देवः ।
दिशः प्रसेदुर्हि पुफुल्ल संततं सतां सुराणां हृदयारविन्दम् ॥ ५९ ॥

अर्थ—सुन्दर पक्ष लगे हुए, शुभ और रमणीय सम्वत् १९३३ के वैशाख मास के शुक्ल-पक्ष की शुभ ५मी तिथी को, विशद और प्रशस्त मध्यान्ह काल में, इस जगत् की मङ्गल-कामना से देव-देव का प्रादुर्भाव हुआ। दिशायें गूँज उठीं और सज्जनों तथा देवताओं के हृदय-कंज सदा के लिये प्रफुल्लित हो उठे ॥ ५८, ५९ ॥

दुर्भिक्ष-मारी-वृजिनान्युपद्रवाः पिधाय नेत्राणि विधाय मौनम् ।
तत्तेजसा दुर्विषहेण तप्तास्तद्देशतो दूरतरं प्रदुद्रुवुः ॥ ६० ॥

अर्थ—भगवान् के इस प्रकार जल-निस्सरण मात्र ही से, उस देश के दुर्भिक्ष, महामारी, पाप और अन्य सारे उपद्रव, उनके दुर्विषहण (असह्य) तेज से जले हुए, आंखें मूँद और मौन-धारण कर दूर भागे ॥ ६० ॥

दृष्ट्वाथ देवं सलिलाद्विनिस्सृतं सर्वे सुरा हृष्ट-तराः बभूवुः ।
अवाकिरन्सत्कुसुमैः सुमाल्यैः स्वोद्यान-जातैश्च सुगन्धिवद्भिः ॥ ६१ ॥

अर्थ—श्रीमद्यज्ञ-वराह को जल से वहिर्भूत हुआ देख कर, देव-गण अत्यन्त प्रसन्न हुए और अपनी वाटिका (नन्दन) के सुन्दर सुगन्धियुत पुष्पों की मालावों की उन पर वर्षा करने लगे ॥६१॥

तद्दर्शनाल्हाद-परिल्पुतान्तरा वितृप्त-नेत्रा विगताभिमानाः ।
नत्वा पदाब्जं हि परस्य देवास्तमेव संशन्त इतास्स्व-गेहान् ॥ ६२ ॥

अर्थ—उनके दर्शन से उपजे हुए आनन्द से भरे हुए हृदय वाले, तृप्त-लोचन और अभिमान-रहित देवता उन श्रेष्ट देव की वन्दना कर, उन्हीं की प्रसंश करते हुए, अपने अपने घर गये ॥ ६२ ॥

तथैव सर्वेऽवनि-देवतादयश्चक्रुस्स्म पूजां स्नयनादिपूर्वाम् ।
नत्वा वराहं मुनि-पुंगवं च, गन्तुं स्वधामानि ययाचिरे तम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—उसी प्रकार ब्राह्मणों और देवताओं ने भी स्नानादि करके उन देवदेव की पूजा की; और, तब देव-देव तथा मुनि-वर को प्रणाम करके अपने-अपने घर जाने की आज्ञा माँगने लगे॥६३

ब्राह्मणादय ऊचुः ।

स्वामिन्ननुज्ञां प्रददातु नो भवान् गन्तुं स्व-वेशमानि समुत्सुका वयं ।

श्री गुरुरुवाच—

निशम्य याञ्चां स मुनिश्च तेषां प्रोवाच तान्हृष्टमनाः सुधीमान्॥ ६४ ॥

अर्थ— ब्राह्मणादिकों ने कहा—"हे स्वामिन ! हम लोग अपने-अपने घर जाने के लिए बड़े ही उत्सुक हैं; अतएव हमें वैसा करने की आज्ञा प्रदान कीजिये ।" श्री गुरु महाराज बोले—उनकी यह प्रार्थना सुनकर, उस बुद्धिमान् ऋषि ने उन प्रसन्न-चित्त लोगों से कहा - ॥६४॥

मुनिरुवाच—

शृणुध्वमेतद्वचनं मदीयं मुखोरु-जाताश्च भुजांघ्रिजाश्च ।
अस्तीह मूर्तिः खलु धेनुमत्यां हरिप्रवीरस्य हि वायुजस्य ॥ ६५ ॥

अर्थ—ऋषि ने कहा—"हे धाता के मुख से उत्पन्न हुए ब्राह्मणो ! हे उन्हीं की भुजाओं से जायमान् क्षत्रियो ! तथा जंघे से जन्मे हुए वैश्यो ! एवं पादोत्पन्न शूद्रो ! मेरी यह बात सुन। इस गोमती के जल में, यहीं-कहीं, वानर-प्रधान, वायु-पुत्र, हनुमान्, की भी मूर्ति है ॥ ६५ ॥

अन्विष्यतां सर्वबलेन धीरा निःसार्य्य तीरे प्रतिगन्तुमहर्थ ।
इत्युक्तवन्तं यमिवर्य्यमाह तम् रामस्यदासो गुह-वंश मुख्यः ॥ ६६ ॥

अर्थ—"उसे आप लोग बल पूर्वक खोज कर तीर पर निकालिये और तब जा सकते हैं।" यतिवर्य्य के ऐसा कहते-न-कहते, गुह-प्रधान, रामदास उनसे बोल उठा ॥ ६६ ॥

रामदास उवाच—

स्वामिन्न चास्तीह च मूर्तिरन्या, स्फुटं हि नो ज्ञातमिति स्म विद्वन् !
तथापि चाज्ञां क्रियतान्च नो विभो ! यतामहे मूर्ति-विढुंढुने वयम् ॥६७॥

अर्थ—"हे स्वामिन् ! हे विद्वान ! यह हम लोगों को स्पष्ट रूप से मालूम है कि यहाँ और दूसरी कोई भी मूर्ति नहीं है। तथापि, हे विभो ! हमको आज्ञा दीजिये, और हम लोग मूर्तियों के खोजने का यत्न करेंगे।" ॥ ६७ ॥

इतीरितां वाचमथो निशम्य स तथास्तु वत्सेति जगाद संयमी ।
आदाय चाज्ञां हि मुनेर्निषदा उत्तस्थुरत्यन्त-विशुद्ध-मानसाः ॥ ६८ ॥

अर्थ—निषाद- श्रेष्ट, रामदास, की ऐसी वाणी को सुनकर, उन संयमी मुनि-वर्य्य ने आज्ञा दी—'एवमस्तु वत्स !" अथ, उनका यह आदेश पाकर विशुद्ध-चित्त केवट झट उठ खड़े हुए ॥ ६८ ॥

ततस्समानीय दृढ़ां सुनावं सँस्तभ्य तां वारिणि गाढ़-यन्त्राम् ।
वेणुं समादाय सुदीर्घ-पीवरमन्वेषयामासुरतीव मूर्तिम् ॥ ६६ ॥

अर्थ—तदनन्तर उन लोगों ने एक सुदृढ़ नौका को जल में अच्छी प्रकार स्थिर कर, उस पर आरूढ़ हो, एक खूब लम्बे और मोटे वाँस से, उस मूर्ति की बहुत खोज की ॥ ६६ ॥

एवमन्विष्यमाणेषु, भक्तेषु भक्त-वत्सलः ।
वेणुं स्वयं हि पस्पर्श, कृपया मारुतिः सुधीः ॥ ७० ॥

अर्थ—भक्तों के इस भांति खोजने पर, भक्त वत्सल, भगवान् हनुमान्जी ने स्वयं ही कृपा पूर्वक उस वाँस को स्पर्श किया ॥ ७० ॥

अथोऽचुरानन्द-परिप्लुतान्तराः कैवर्त्तवीरा मुनि-वर्य्यमादरात्।
अस्तीह पाषाण-विशेष कश्चिन्नो निश्चितं मूर्तिरियं न वेति ॥ ७१ ॥

अर्थ—तदुपरान्त, अत्यन्त आनन्द से भरे हुए हृदय वाले वीर-केवटों ने, बहुशः आदर करके, मुनि-पुंगव से निवेदन किया—"हे विभो ! यह तो अब हम लोगों को निश्चय हो गया कि यहाँ पर अवश्य कोई पत्थर-विशेष हैं, परन्तु यह नहीं कह सकते कि यह मूर्ति ही है अथवा कोई दूसरी वस्तु।" ॥ ७१ ॥

श्रुत्वा चोक्तिमथ मुनिः प्रहर्षिणीयां तेषान्तां प्रतिवच आह सम्प्रहृष्यन् ।
भो भो धीवर-परिवार-मुख्य-मुख्याः समंज्याशु पयसि तां च निश्चिनुध्वम्।७२।

अर्थ—उनको प्रसन्न करने वाली उक्ति सुनकर, प्रसन्न होते हुए मुनिराज ने उनसे कहा—"हे केवटों में श्रेष्टजनो ! शीघ्रही गोमतीके जल में डूबकर उसकी खोज करो तथा निकालो"॥७२॥

श्रीगुरु रुवाच—

निशम्य चोक्तिं मुनि-पुंगवस्य ते एकैकशश्चाप्सु वुवूडुरुत्सुकाः ।
नैकोऽपि पस्पर्श हि मूर्तिमद्भुताम् समुंज्यमानाः सलिलेन चासकृत् ॥७३॥

अर्थ—श्री गुरु भगवान् ने कहा—यति-प्रधान की उक्ति का श्रवण कर, उन उत्सुक धीवरों ने एक-एक करके, जल में डुबकियाँ लगाईं; किन्तु जल के ऊपर फेंक देने के कारण, कोई भी उस अद्भुत मूर्ति को छू न पाया ॥ ७३ ॥

हत-प्रयत्नाश्च निरीक्ष्य तानथ, रामादि-दासान्त-पदाभिधस्य ।
तातः सुवीरः स्थविरोऽति पीवरो व्याप्तस्तु वीराख्यरसेन संचलन् ॥ ७४ ॥
निर्भर्त्स्य सर्वान् स निषाद-वीरानुत्थाय तीरात्प्रजगाम हृष्यन् ।
प्रविश्य तोयेऽथ निरुह्य नावं, नत्वा मुनीद्रं च वुवूड के वरः ॥ ७५ ॥

अर्थ—शरीर के मोटे और वीर रामदास के बुड्ढे पिता ने, सबके प्रयत्न का कुछ फल न होते देख, वीर-रस से काँपते हुए, सम्पूर्ण वीरों का तिरस्कार करके, तीर से उठ कर, जलस्थ नौका पर चढ़ मुनि-श्रेष्ट को प्रणाम किया तथा एक डुबकी लगायी ॥ ७५ ॥

स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वाथ हि मूर्तिमद्भुतामुन्मज्य नीरात्स मुनिं ननाम ह ।
अथाह सर्वान्परिहर्षयन्सुधीर्मुनीद्र-मुख्यानति-हर्ष-मानसः ॥ ७६ ॥

अर्थ—और, तब, उस अद्भुत मूर्ति का भलीभाँति दर्शन-स्पर्शन कर जल से बाहर निकला । एवं अत्यन्त हर्ष-भरे हृदय से सबको प्रसन्न करते हुए, उस बुद्धिमान् ने दण्डि-देव से आवेदन किया—॥ ७६ ॥

स्वामिन् ! युष्मत्प्रसादेन, दृष्टा स्पृष्टा च सा मया ।
मूर्तिर्हनुमतोऽस्याश्च निःसारणं विधीयताम् ॥ ७७ ॥

अर्थ—"हे स्वामिन् ! आपकी कृपा से मैंने उस मूर्ति के दर्शन-स्पर्शन किये । वह अवश्य हनुमानजी की मूर्ति है; अतः प्रभो, उसके निकालने की आज्ञा प्रदान कीजिये" ॥ ७७ ॥

श्रीगुरुरुवाच—

श्रुत्वा तदुक्तिं ह्यमृतायमानां सर्वेऽपि लोकाः सुखिता बभूवुः ।
अथाह रामस्य जनोऽपि हृष्यन्, स्वामिन्ननुज्ञां क्रियतां ममेति ॥ ७८ ॥

अर्थ - श्रीगुरु जी बोले—उसकी उक्ति सुन, सब लोग बड़े ही प्रसन्न हुए; और रामदास ने, प्रसन्न होते हुए, स्वामी जी से निवेदन किया—"हे स्वामिन् ! अब मुझे इसके निकालने की आज्ञा दीजिये ।" ॥ ७८ ॥

"तथाहि वत्से"-त्युदिते महात्मना रज्जुं समादाय ममज्ज नीरे ।
निमज्ज्य वीरोथ बबन्ध मूर्त्तिम् श्रीवायुसूनोर्हि दृढं गुणेन ॥ ७९ ॥

अर्थ—स्वामी जी के "तथाहि, वत्स, (वैसाही हो)" कहने पर, उस वीर ने एक दृढ़ रस्सी लेकर, जल में डूब, हनुमान् जी मूर्त्ति को दृढ़ता-पूर्वक बाँध दिया ॥ ७९ ॥

बद्ध्वा च निर्गत्य जलादथाह सर्वान् हि लोकान्स गभीरया गिरा ।
विभ्राम्यतां यन्त्रमतीव वीराः शनैःशनैस्तीरमुपैति मूर्त्तिः ॥ ८० ॥

अर्थ—बाँधने के पश्चात्, जल से निकल कर, सर्व मनुष्यों से गम्भीर गिरा में बोला—'हे वीरो ! यन्त्र को खूब तेज़ी से चलाइयो, जिसमें धीरे धीरे मूर्ति किनारे पर पहुँच जाय' ॥ ८० ॥

श्रुत्वा तदुक्तिं त्वथ सर्व-लोकाः प्रवर्त्तयामासुरतीव यन्त्रम् ।
किंचिच्च शेषे द्युमणौ त्वथायं भक्तानुकम्पा जन-ताप-हन्ता ॥ ८१ ॥
स्वेच्छानुचारी वृजिनापहारी दैत्यारि-दूतः पवनात्मजः स्वयम् ।
ज्ञात्वा तु तेषां सुहृदां सुनिश्चयं शनैः शनैस्तीरमितो हनूमान् ॥८२॥

अर्थ - उसकी बात सुनकर लोगों ने यन्त्र को खूब घुमाना आरम्भ किया, और आकाश मणि, सूर्य्य, के थोड़े ही शेष रहने पर, भक्त-वत्सल, जन-दुःख-विनाशक, स्वेच्छा पूर्वक विहार करने वाले, पापों के संहारक, दैत्य-सूदन, भगवान् श्री रामचन्द्र के दूत, हनुमान्‌जी ने उन सज्जनों के निश्चय का ध्यान करके, स्वयं ही धीरे-धीरे तीर की ओर आना स्वीकार कर लिया ॥८१, ८२॥

अथ दुंदुभयो नेदुः शंख-भेर्य्यादयस्तथा ।
प्रहृष्टाः सज्जनास्सर्वे, मम्लुरसुर-दस्यवः ॥ ८३ ॥

अर्थ—निकलते ही, शंख, भेरी और दुंदुभी इत्यादि के वाद्य होने लगे। सम्पूर्ण सज्जन-वर्ग आनन्दित हो उठा और असुर तथा दस्यु (डाकू) लोग मुरझा से गये ॥ ८३ ॥

ततस्तु पूजां विविधोपचारै श्चक्रुः स्म सर्वे क्षिति-देवतादयः ।
नत्वा वाराहं पवनात्मजञ्च, मुनिञ्च विज्ञाप्य ययुर्यथागतम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—तदुपरान्त ब्राह्मणों ने नाना- भाँति से उनकी पूजा की। पश्चात् सबलोग श्री वराह जी तथा हनुमान् जी को प्रणाम कर और द्रविड-प्रवर से आज्ञा पाकर, जैसे आये थे, अपने अपने घर चले गये ॥ ८४ ॥

महोत्सवं तं हृदि संस्मरंत—स्तमेव मार्गे कथयंत एत्य ।
गेहान् स्वकान् सर्व-जनाः प्रहृष्टाः ससंशुरेतं सुत-दारकादिकान् ॥८५॥

अर्थ—वे सब रास्ते भर जाते हुए इसी महोत्सव की चिन्तना करते गये और अपने-अपने घर पहुँच कर, अत्यन्त आनन्दित हो, अपने बाल-बच्चों से इसकी प्रशंसा करने लगे ॥ ८५ ॥

गतेषु सर्वेषु जनेषु वीरो ययाच ह्यागत्य मुनि-प्रधानम् ।
गृहं सुगन्तुं रघुनन्दनोऽसौ प्रदेहि चाज्ञां भगवन् ! ममेमि ॥ ८६ ॥

अर्थ—सब लोगों के चले जाने पर, वीर-वर रघुनन्दनसिंह ने आकर यति-पुंगव से निवेदन किया—"हे भगवन् ! अब मुझे भी घर जाने की आज्ञा दीजिये" ॥ ८६ ॥

श्रुत्वा गिरं तां रघुनन्दनस्य वै, प्रोवाच तस्मै स विदां वरिष्ठः ।
"प्रयाहि-वत्से" ति विशुद्ध-चेता दत्वा ह्यनुज्ञां पुनराहतं यमी ॥ ८७ ॥

अर्थ—रघुनन्दनसिंह का यह निवेदन सुनकर उस विद्वच्छ्रेष्ट ऋषि ने उनकी अभिलाषा पूर्ण की—"हे वत्स ! जावो ।" और फिर उन्हीं से बोले——॥ ८७ ॥

यतिरुवाच—

श्रूयतां च त्वया वत्स ! रघुनन्दन ! शत्रुहन् !
श्वः प्रभाते समुत्थाय, खनकानादाय पूरुषान् ॥ ८८ ॥
यायाश्चतैस्त्वं सह शीघ्रमेव, तान्कारयिष्ये खनक-प्रधानान् ।
घट्टं सुघट्टं हि निपान-वर्य्यं तेनैव मार्गेण सुखेन मूर्ती ॥ ८९ ॥
आयास्यतश्चोर्द्धमितिस्म वत्स ! ते स्थापयिष्याम इभाशनस्य ।
मूलेऽथ शान्ताः प्रभवाम सर्वे स्थानस्य चर्चा भवितानुपश्चात् ॥९०॥

अर्थ—"हे वत्स ! हे रघु-कुल-आनन्द ! हे परन्तप ! कल प्रातः समय कुछ खनकों (नोनियों) को फावड़ा लिवाकर शीघ्र ही यहाँ आना । उन खनक-श्रेष्ठों से मैं एक सुन्दर घाट और निपान बनवाऊँगा; उसी मार्ग से होकर ये दोनों मूर्त्तियाँ सुख-पूर्वक ऊपर घाट पर चली आयेंगी। तब, उन्हें हमलोग इस पीपल-वृक्ष के मूल में स्थापित कर के निश्चिन्त हो जाँयगे; और उनके स्थान की पीछे चिन्ता की जावेगी।" ॥ ८८, ८९, ९० ॥

श्रीगुरुरुवाच—

इत्यस्य चाज्ञां स निधाय मस्तके, नत्वा मुनीद्रं प्रजगाम वीरः ।
तस्मिन्प्रयाते रघुनन्दने यमो चकार शौचादि-समस्तकृत्यम् ॥ ९१ ॥

अर्थ—श्रीगुरु जी ने, कथा-क्रम का बोध कराते हुए, पुनः अपने शिष्य से कहना आरम्भ किया—हे वत्स ! वीरवर रघुनन्दनसिंह ने उनकी यह आज्ञा शिरोधार्य्य मान और प्रणाम कर,

अपने घर की ओर प्रस्थान किया। और, उनके चले जाने पर, यति-वर्य्य भी शौचादि नित्यः कर्म करने चले गये ॥ ६१ ॥

नत्वाथ देवान्भगवत्प्रधानान् कृत्वा च भिक्षां शयितः सुखंगतः ।
ब्राह्मे मुहूर्त्ते च समुत्थिस्सन् दध्यौ स्वरूपं प्रकृतेः परं सुधीः ॥ ६२ ॥

अर्थ—फिर, भगवत्प्रधान देवताओं को प्रणाम करके भिक्षा की, तथा सुखी होकर सोने चले गये। पुनः प्रातःकाल, ब्रह्म-वेला में, उठ कर प्रकृति-पुरुष भगवान् के श्रेष्ठ-स्वरूप का ध्यान किया ॥ ६२ ॥

ततस्समुत्थाय विधाय शौचं च सस्नौस्म तीर्थे किल कोटि-संज्ञिके ।
स्नात्वा बसत्वा रुचिरे दूकूले जजाप जाप्यं प्रणवाख्यमव्ययम् ॥ ६३ ॥

अर्थ—तदनन्तर उठ कर शौच किया और सुन्दर कोटि-तीर्थ नामक तीर्थ में जाकर स्नान किया, एवं तट पर आकर सुन्दर दुकूल-वस्त्र धारण करके "प्रणव" (ॐ) नामक अविनाशी जाप का जप करने लगे ॥ ६३ ॥

ध्यात्वाथ पूजां प्रचकार बुद्धिमाञ्छंभोर्वराहस्य हरेः प्रशस्तैः ।
वासन्तिकैः पुष्प-दलांकुरैः स हिताय लोकस्य न चात्मनो वै ॥ ६४ ॥

अर्थ—अथान्तर, उन बुद्धि-सागर यति-शिरोमणि जी ने सुन्दर-सुन्दर वासन्तिक पुष्पों और नानाभाँति के पूजा योग्य पत्तों से, अपनी नहीं, जगत् की मंगल-कामना से, शिव-रूप, भगवान् श्री मद्यज्ञवराह जीकी विधिवत् पूजा की ॥ ६४ ॥

अथ प्रभाते रघुनन्दनोऽपि जनान्समादाय ससाधनानसौ ।
खनि-क्रियायां च सुदक्षिणान्प्रभु-र्नत्वार्पयत्तान्गुरुवे महात्मने ॥६५॥

अर्थ—तब तक, रघुनन्दनसिंह ने भी खोदने की क्रिया में पण्डित पुरुषों को, उचित सामग्री के साथ, लिवाकर महात्मा-भूत गुरुवर्य्य के चरणों में निवेदन कर दिया ॥ ६५ ॥

रघुनन्दन उवाच—

मयानीता इमे स्वामिन्नरा भवदनुज्ञया ।
यत्र स क्रियते घट्टस्तत्रैते यान्तु साम्प्रतम् ॥ ८६ ॥

अर्थ—रघुनन्दनसिंह ने प्रार्थना की—"स्वामिन्! आपके आज्ञानुसार मैंने इन मनुष्यों को आपके पाद-पद्मों में उपस्थित किया है। अब, जहाँ घाट बनाना हो, ये जाँय" ॥ ९६ ॥

श्रीगुरुरुवाच—

श्रुत्वेरितां वाचमतीव तथ्यां प्रोवाच तस्मै रघुनन्दनाय सः ।
*(प्रशंसयन्तस्य गुरौ हि भक्तिं) सन्यासि-वर्य्योऽति विशुद्ध-मानसः ॥९७॥

अर्थ—श्रीगुरु जी बोले—इस तथ्य-मयी वाणी को सुनते ही, उसकी गुरु-भक्ति की प्रशंसा करते हुए, उस विशुद्धमना सन्यासि-श्रेष्ठ ने रघुनन्दनसिंह से कहा— ॥ ९७ ॥

यतिरुवाच—

रामदासं समाहूय त्वस्मिन्कार्य्ये विशारदम् ।
स प्रष्टव्यस्त्वया वीर! क्व घट्टं खान्यतामिति ॥ ९८ ॥

अर्थ—"हे वीर! इस कार्य्य में पण्डित रामदास को बुलाओ, और उससे पूछो कि कहाँ घाट बनाया जाय ॥ ९८ ॥

स यत्र कुर्य्याद्धि विनिश्चयं सुधी-र्निखान्यतां तत्र निपानमद्भुतम् ।
स्वल्पप्रयासेन हि येन चोर्द्ध्वं मूर्त्योर्भवेदागमनं सुखेन वै ॥ ९९ ॥

अर्थ—"वह बुद्धिमान् जहाँ निश्चय करे, सुन्दर निपान बनवावो, जिसमें सरलता-पूर्वक मूर्तियों का तट पर आगमन हो जाय" ॥ ९९ ॥

श्रीगुरुरुवाच--

आदिष्ट एवं मुनि-पुंगवेन तथाहि सर्वं प्रचकार धीमान् ।
स खानयित्वा विशदं विशालं यथा निषादेन तदग्र उक्तम् ॥१००॥

अर्थ - पुनः गुरु जी ने कथा-क्रम चलाया—यति-शार्दूल के इस प्रकार के आदेश करने पर, बुद्धिशील रघुनन्दनसिंह ने सब कुछ वैसाही किया, जैसा कि उस केवट-वर्य्य ने विशद और विशाल निपान खोदन को कहा ॥ १०० ॥

* इस श्लोक का तीसरा पद वराह-चरित्र की हस्त-लिखित प्रति में नहीं है।

अथावशिष्टे प्रहरार्द्ध-दिवसे समेत्य वीरो मुनये न्यवेदयत् ।
सिद्धं महात्मन् ! सुनिपान-मार्गं भवद्भिरेतत्कृपयावलोक्यताम् ॥१०१॥

अर्थ—अब, आधे पहर दिन रहने पर, वीर-श्रेष्ठ ने मुनि-महामना के समीप जाकर विनती की—"हे महात्मन् ! निपान-मार्ग तो हम लोगों ने बना दिया। अब, कृपया आप इसे एक वार देखलँ" ॥ १०१ ॥

इत्यर्थितस्तेन स धीरधुर्य्य--उत्थाय चालोक्य निपान-मार्गम् ।
अत्यन्त रम्यं सुविशाल-दीर्घं, वभूव चानन्द-परिप्लुतान्तरः ॥ १०२ ॥

अर्थ—उनसे इस प्रकार प्रार्थना किये जाने पर उस धीर-धुर-धारी ऋषि ने उठकर अत्यन्त विशाल और रमणीय निपान-मार्ग का अवलोकन किया, तथा मारे आनन्द के हृदय भर आया ॥ १०२ ॥

कथञ्चिदुन्मज्ज्य सुखाब्धिमध्या--दुवाच वचनं परमार्थ-निष्ठम् ।
"हे वत्स ! हे वीर ! इतः परं त्वम् स्वरूप-निष्ठः सततं भवेति" ॥१०३॥

अर्थ—उस सुख-महासागर से किसी प्रकार थोड़ा सा निकल कर, परमार्थ से सन्निविष्ट वाक्य बोल उठे—"हे वत्स ! हे वीर ! स्वर्ग-लोक में तुम सदैव परमात्मा के स्वरूप में निमग्न रहो !" ॥ १०३ ॥

दत्वाशिषं तां पुरुषार्थ-मुख्यां भूयस्तमाहाथ विनेय-मुख्यम् ।
"प्रातः समुत्थाय परन्तप ! त्वया, चैतद्धि कार्य्यं विहितव्यमाशु वै॥१०४॥

अर्थ—उस पुरुषार्थ-प्रदान करने में मुख्य आशीर्वाद को देकर, पुनः उस सुशील-प्रधान से कहने लगे—"हे शत्रु-सूदन ! कल सवेरे उठ कर शीघ्र ही इस कार्य्य का विधान करना कि—॥ १०४ ॥

"सर्वान्समादाय पुरस्य लोकां--स्तथैव वादित्र-वादकाञ्जनान् ।
शीघ्रं हि यायास्त्वधुना तु वै भवान् प्रयातु गेहं सकलार्थ-सिद्धिदम्"॥१०५॥

अर्थ—उसी प्रकार से सम्पूर्ण गावों के लोगों को और वाद्यकारों को लेकर यहाँ आना। इस समय तो आप सम्पूर्ण सिद्धियों को देने वाले अपने घर जा सकते हैं।" ॥ १०५ ॥

इत्यस्य चाज्ञां शिरसा गृहीत्वा नत्वांघ्रि-पद्मं प्रजगाम वीरः ।
तस्मिन्प्रयाते रघु-वंश-भूषणे त्वथाह चाभ्येत्य हि रामदासः ॥ १०६ ॥

अर्थ—उनकी यह आज्ञा शिर-माथे रखकर, उन्हें नमस्कार कर, अपने घर को चल पड़े। उस रघु-कुलावतंस के जाते ही रामदास ने भी, महात्माजी के समीप पहुँच कर, कहा—॥१०६॥

रामदास उवाच—

"स्वामिन्नितोऽहं स्वगृहं प्रयायां प्रातः समादाय निषाद-वर्य्यान् ।
सर्वान्समेष्यामि नमोस्तु तुभ्यं," "प्रयाहि वत्सेति" स आह सादरम् ॥१०७॥

अर्थ—"हे स्वामिन् ! मुझे भी आज्ञा दीजिये, मैं भी अपने घर जाऊँ। सवेरे फिर श्रेष्ठ केवटों को लेकर सेवा में प्रस्तुत होऊँगा। प्रभो! तुम्हें नमस्कार।" और, मुनि महात्मा ने भी आज्ञा देदी—"जावो, वत्स।" ॥ १०७ ॥

श्रीगुरुरुवाच—

एवं हि सर्वेषु गतेषु वत्स ! कर्मन्दि-वर्य्यः समवस्थितोऽत्र ।
शौचादि-सर्वं प्रविधाय संयमी, जगाम निद्रां स्मरयन्स्वरूपम् ॥ १० ॥

अर्थ—श्री काशीपुरी के परम-हंस-गुरु-वर्य्य ने अपने कथा प्रिय जिज्ञासु शिष्य को सम्बोधित करके पुनः कथाक्रम चलाया—हे वत्स ! इस प्रकार सब लोगों के चले जाने पर, वे सन्यासि-श्रेष्ठ ही वहाँ व्यवस्थित रह गये। पुनः नित्यः क्रिया से निवृत हो, जगन्नियन्ता का ध्यान करते हुए, निद्रागत हुए ॥ १०८ ॥

अथ प्रभाते हि निषाद-मुख्याः समागताः कार्य्य-विशारदास्ते ।
नत्वा मुनीद्रञ्च तथैव देवांश्चख्नुः स्वयन्त्रं खलु तैल-संज्ञकम् ॥ १०९ ॥

अर्थ—प्रभात होते ही कार्य्य-कोविद केवट वहाँ उपस्थित हो गये। तथा देवताओं और दण्ड-देव का अभिवादन कर, अपने "तैल—यन्त्र" को खोद निकाला ॥ १०९ ॥

अथागतोऽसौ रघु-बंश-पंकजवनेन तुल्यो रघुनन्दनोऽपि ।
आदाय सर्वान्नगरस्थ-लोकान् सहैव वीरो बहुवाद्य-बादकैः ॥ ११० ॥

अर्थ—तब तक रघु-कुल-कमल-दिवाकर-स्वरूप रघुनन्दनसिंह भी समग्र ग्रामों के मनुष्यों को संग ले, अनेक वाद्य-कारों सहित, आन उपस्थित हुये ॥ ११० ॥

आगत्य सर्वेऽथ ववन्दिरे मुनिं, लब्धाशिषस्ते सुखिनो बभूवुः ।
तत्रैव चाभ्येत्थ हि रामदासो नत्वा मुनीन्द्रं पुनराह धीवरः ॥ १११ ॥

अर्थ—सब लोगों ने मुनि-वर्य की वन्दना की और आशीर्वाद पाकर आनन्दित हुए। उसी बीच में रामदास केवट ने आकर यति-वर को प्रणाम कर कहना आरम्भ किया— ॥ १११ ॥

रामदास उवाच—

"स्वामिन्निमे सर्व-निषाद-वीराः समागताः सर्व-विधान-दक्षाः ।
ददात्वनुज्ञां भगवानथो वयं यतामहे त्वानयने हि मूर्त्योः ॥११२॥

अर्थ—"हे स्वामिन् ! ये सम्पूर्ण कार्य्यों को करने में दक्ष केवट लोग आ गये हैं। अतः अब हमको आदेश दीजिये, हम सब मूर्तियों के लाने का उद्योग करें" ॥ ११२ ॥

"वाढं हि वीरे"—त्युदिते महात्मना सर्वे प्रजग्मुश्च सुभक्ति-संयुताः ।
गत्वा च तीरे दश-पंच-धीवरा ववन्धुरुत्साह-भरेण मूर्त्तिम् ॥ ११३ ॥

अर्थ—महात्माजी के "अच्छा ऐसाही हो" कहने पर सब लोग भक्ति-युक्त होकर तीर पर गये। वहाँ दश-पाँच धीवरों ने उत्साह-भरे बल से मूर्ति को बाँध डाला ॥ ११३ ॥

श्रीमद्वराहस्य गुणेन गाढं, सरामदासा अति हृष्ट-मानसाः ।
विभ्रामयामासुरथो हि यन्त्रम् सर्वे प्रहृष्टा हि बलेन धोराः ॥ ११४ ॥

अर्थ—श्रीमद्यज्ञवराह जी की मूर्ति को खूब दृढ़ रस्सी से बाँधकर रामदासादिकों ने प्रसन्न-हृदय हो कर, बलपूर्वक यन्त्र-संचालन किया ॥ ११४ ॥

अथ दुन्दुभयो नेदुः शंख-भेर्य्या नकादयः ।
कोणैराहन्यमानास्य वीणा-मृदंग-गोमुखाः ॥ ११५ ॥

अर्थ—उसी शुभकाल में, शंख, दुन्दुभी, भेरी, नक्कारे, मृदंग, गोमुख, वीणा इत्यादि वाद्य-कारों द्वारा बजाये गये ॥ ११५ ॥

"जय-जय"-ध्वनिर्महानासीद्बभूव पर-मंगलम् ।
उपर्य्यागमने स्वान्तं देवस्यास्य वभूव वै ॥ ११६ ॥

अर्थ—देव देव के ऊपर आने में "जय-जय" की ध्वनि से आकाश मण्डल गूँजने लगा और शुभ-अन्त-युक्त (अर्थात् अच्छे परिणाम वाला) महामोद होने लगा ॥ ११६ ॥

अथाजगाम स्वयमेव देवः शनैः-शनैर्भक्त-मनोनुहारी ।
निमित्त-मात्रं त्वभवत्स्म यन्त्रं तथा जनानां परमोद्यमञ्च ॥ ११७ ॥

अर्थ—भक्तों के मन की करने वाले भगवान् स्वयमेव धीरे धीरे ऊपर चले आये; यन्त्र और मनुष्यों का समुदाय तो एक कारण मात्र ही हुआ ॥ ११७ ॥

संस्थाप्य तं वोधि-तरोर्हिमूले भूयो गताः धेनुमती-सुतीरे ।
ववन्धुरासाद्य दृढ़े सु-रज्वा मूर्तिञ्च हर्य्यात्मजनेर्हि धीवराः ॥ ११८ ॥

अर्थ—उसे वोधितरु (पीपल) के मूल में स्थापित करके, फिर वे केवट गोमती के तीर पर गये और रस्सी से हनुमान् जी की मूर्त्ति को दृढ़तर बाँधा ॥ ११८ ॥

प्रवर्त्तयामासुरथो सुयन्त्रम् वलेन वीराः सुकृत-प्रयत्नाः ।
शनैः शनैरेत्य समीपमस्य तटस्य तस्मादुन्मुच्य बन्धम् ॥ ११९ ॥

पयोद-नादेन यथा निविद्धश्चकूर्द भूयः किल गाध-तोये ।
श्रद्धां जनस्यास्य परीक्षणाय, चकार खेलां खलु मारुतिः स्वयम् ॥१२०॥

अर्थ—और, फिर उन सुकृत-प्रयत्न पुरुषों ने यन्त्र का सञ्चालन ख़ूब बलपूर्वक किया, तथा मूर्त्ति भी धीरे २ तट के समीप पहुँच गई; किन्तु वहाँ पहुँच कर, मेघनाद के वन्ध की भाँति, हनुमान्‌जी ने रस्सी तोड़, इस लोक के श्रद्धालुओं की परीक्षा के निमित्त, पुनः गम्भीर जल में कूद कर खेल मचाया ! ॥ ११९, १२० ॥

गते च मूर्त्तावथ तोय-मध्ये सर्वे वभूवुरति-खिन्न-मानसाः ।
आगत्य सर्वेऽथ मुनेः समीपं प्रावोचुरत्यन्त-परिश्रमासाः ॥ १२१ ॥

अर्थ—अब, मूर्त्ति के जल में विलीन हो जाने पर लोग अत्यन्त खिन्न-हृदय हो गये, और अतिशय परिक्लान्त हो कर मुनि-पुंगव से कहने लगे — ॥ १२१ ॥

सर्व-जना ऊचुः--

"स्वामिन्ननुज्ञां प्रददातु नो भवानितः प्रगच्छाम निजाश्रमान्वयम् ।
नोपास्यतीतो भगवान्हनूमान् वृथा श्रमो नो भविताद्य नूनम् ॥ १२२ ॥

अर्थ —"हे स्वामिन् ! हमें यहाँ से घर जाने की आज्ञा दीजिये । भगवान् हनूमान् हम लोगों से उपासनीय न होंगे (नहीं तो क्यों जल में पुनः प्रवेश करते ?)। अतः यदि पुनः निकालने का प्रयत्न भी किया गया, तो वह परिश्रम भी व्यर्थ है" ॥ १२२ ॥

श्रीगुरुरुवाच--

आकर्ण्य तेषां वचनं स योगी, प्रोवाच खिन्नान्परिसान्त्वयँस्तान् ।

योग्युवाच--

"धैर्येण कार्य्याणि भवन्ति सज्जनाः ! किंचिन्न निर्वेदवतां प्रसिध्यति ॥१२३॥

अर्थ—गुरुजी ने फिर कहा–उस योगी महात्माने, उनके ऐसे वचन सुनकर, सान्त्वना देते हुए, उन म्लान-हृदयों से कहा–"हे सज्जनो ! धैर्य्य धारण करने ही से काम ठीक होता है; आतुरों का कोई भी काम सिद्ध नहीं हो पाता ॥ १२३ ॥

अतो धैर्य्यं समाश्रित्य, रामदासेन संयुताः ।
गच्छन्तु त्वरिताः सर्वे त्वयं वध्नातु मारुतिम् ॥ १२४ ॥

रज्वा सुदृढया वीरा नत्वा चास्यांघ्रि-पंकजम् ।
कृते चैवं फलावाप्तिर्भविष्यति न संशयः ॥ १२५ ॥

अर्थ—"अत एव धैर्य्यवान् बनकर रामदास को भी साथ ले लो और हे वीरो ! सुदृढ रज्जू से उनके चरणों में प्रणाम करके, इस मारुती, हनुमान्, को बाँधो ।ऐसा करने पर निस्सन्देह वांछित-फल-प्राप्ति होवेगी ॥ १२४, १२५ ॥

ततः शनैरेष्याति मारुतिः स्वयं, भक्त-प्रियो दावव-दाव-दाही ।

गुरुरुवाच--

इत्थं प्रयोक्ता विनियोगितोऽसौ जगाम नत्वा च मुनिं स सर्वकः ॥ १२६ ॥

अर्थ —"तब, भक्तों के प्रिय और दैत्यों के वन को जला देने वाले, हनुमान् जी स्वयं ही तीर पर आ जाँयगें।" इतनी कथा कह, गुरुजी बोले—वे इस प्रकार कार्य्य में लगाये जानेपर, ऋषिको नमस्कार कर पुनः चल पड़े ॥ १२६ ॥

ततस्त्ववन्धात्खलु मूर्तिमंजनी--सुतस्य वीरः प्रणनाम चांघ्री ।
वद्ध्वा ह्युवाचाथ जनानुपस्थितान्प्रवर्तयध्वं हि वलेन यन्त्रम् ॥१२७॥

अर्थ—और, तब, उस वीर ने अंजनी-पुत्र के दोनों चरणों की वन्दना की और, मूर्ति बाँध कर, उपस्थितजनों से कहा—"हे लोगो ! बल-पूर्वक यन्त्र को चलाओ ।" ॥ १२७ ॥

तस्मिन्काले ह्यवाद्यन्त वादित्राणि च सर्वशः ।
"जय राम-प्रिये"-त्युच्चैः सर्वैराघोषितं जनैः ॥ १२७ ॥

अर्थ—उसी समय वाद्यों ने सब तरह के अपने अपने शब्दों से विघोषित किया और सम्पूर्ण उपस्थित जनता ने "राम-प्रिय की जय हो," ऐसे शब्दों से गगन-मण्डल को भर दिया ॥ १२७ ॥

अथाजगामाति-जवेन वायुजो यत्रास्ति देवो हि "वराह"-संज्ञकः ।
संस्थापयित्वा च तदन्तिके जना वभूवुरत्यन्त-सुकीर्त्ति-भाजनाः ॥ १२८ ॥

अर्थ—अथ, अत्यन्त वेग से वायु-सुनु, हनुमान, का श्रीमद्वराह देव के समीप जाना हुआ । उन्हें स्थापित करके वे सज्जन सुन्दर कीर्ति के पात्र हो गये ॥ १२८ ॥

कृत्वाथ पूजां प्रतिजग्मुरुत्सुका नत्वा हि देवौ च शिवं मुनिं वै ।
लब्धाशिषस्ते परि-पूर्ण-मानसाः स्वं-स्वं-निवेशं परिहृष्यमाणाः ॥ १२९ ॥

अर्थ – तब वे उत्सुक-हृदय मनुष्य उनकी पूजा कर, दोनों देवताओं और मुनि को प्रणाम कर, आशीर्वाद पा, आनन्द-मन हो, अपने-अपने घरों को वहाँ से चल पड़े ॥ १२९ ॥

परेद्युरत्यन्त-विशुद्धबुद्धिभिः कैवर्त्त-वर्य्यैं विरचय्य मंडपम् ।
मौंजं वराह-श्वसनात्मजन्मनोः संन्यासि-वर्य्योऽथ वभूव शान्तः ॥ १३१ ॥

अर्थ—दूसरे दिन विशुद्धि-बुद्धिवाले केवट-श्रेष्ठों से भगवान् वराह और पवनात्मज, हनुमान्, के लिये मुंज (पतलव) का मंडप वनवाकर, वे दण्डि-श्रेष्ट स्थिर-चित्त हो गये ॥१३१॥

अथोषतुस्तत्र हि देव-वर्य्यौ, सम्वत्सरान्द्वादश-संख्यकान्वै ।
ततस्तु तस्मादिभभद्र-मूलादत्युच्च-भूमौ खलु तौ प्रणीतौ ॥ १३२ ॥
तेनैव यन्त्रेण निषाद-वर्य्यैं-रुत्थापितौ चोत्तर-पश्चिमाननौ ।
ततस्तयोर्मण्डप-सन्निभं वा अकारि तेनाल्प-सहायभाजा ॥ १३३ ॥
तद्ग्राम-वासी किल गौतमोत्तमो यो रामदीनेति विभर्त्ति चाख्याम् ।
सोऽप्याल्प-कालेन पपात मण्डपो व्ययाल्पकत्वाददृढत्वहेतोः ॥१३४॥

अर्थ—इसके अनन्तर ये दोनों देवता वहीं १२ वर्ष पर्य्यन्त पड़े रहे। अन्त में वृक्ष-मूल से अत्यन्त उच्च स्थान बनाकर उन्हीं केवटों ने, एक को उत्तर और दूसरी को पश्चिम मुख करके, दोनों मूर्तियों को स्थापित कर दिया; और उसी ग्राम के निवासी, गौतम-श्रेष्ठ ठाकुर रामदीन सिंह ने, अपनी अल्प सहायता से, एक मन्दिर भी बनवा दिया; पर यह बहुत दिनों तक न टिक सका; क्योंकि अल्प-व्यय होने के कारण अच्छा और दृढ़ न था ॥ १३२, १३३, १३४ ॥

एवं द्विवारं हि पपात मंदिरं ततस्त्वयं खिन्न-मना वभूव ह ।
रामादि-दीनान्त-पदाभिधेयस्तमाह योगी प्रहसन्निवाग्तरः ॥ १३५ ॥

अर्थ—इसी भाँति यह मन्दिर दो बार गिर गया। इसे देख रामदीन सिंह बड़े ही दुःखी हुए। और, तब उन योगी जीने, एक दिन, हँसते हुए, उनसे कहा—॥ १३५ ॥

यतिरुवाच---

"मा रामदीन ! त्वमगाविषस्मतां, संकल्प एषः खलु देवयोस्तयोः ।
अन्यं हि नूनं प्रतिदातुमिच्छथो यशोऽथ मा त्वं प्रतिसेधुर्महसि ॥ १३६ ॥

अर्थ—"रामदीन ! दुःखी मत हो; इसे इन देवों के चरणों में संकल्प कर दो और कुछ दूसरा भी अवश्य देने की इच्छा करो ।। १३६ ।।

रामदीन उवाच—

"स्वामिन्यस्यास्ति संकल्पः स कारयितु मन्दिरम् ।
नाहं तं प्रतिसेत्स्यामीत्युक्त्वागात्स्वं निवेशनम् ।। १३७ ।।

अर्थ—रामदीन ने कहा—"हे स्वामिन् ! जिसने मन्दिर बनवाने के लिये संकल्प किया हो, वह बनवाए ।" ऐसा कहकर वह अपने घर चला गया ।। १३७।।

श्रीगुरु रुवाच—

तस्मिन्प्रयाते खलु रामदीने तत्रागमद्वै रघु-वंश-भूषणः ।
भ्राता कनिष्ठो रघुनन्दनस्य यो रास-स्वरूपेति यमाहुरार्य्याः ।। १३८ ।।

अर्थ—श्रीगुरु जी बोले—रामदीन के जाने पर, उसी क्षण, रघुनन्दन सिंह का छोटे भाई, रघु-कुल में भूषण-भूत, जिसे श्रेष्ठ-जन "रामस्वरूप" कहते हैं, वहाँ आया ॥ १३८ ॥

सद्धर्म-धारी सुजनानुचारी दीनोपकारी द्विषतां प्रहारी ।
आरब्धपारी च शुभ-प्रचारी कुसंग-हारी च सुसंगकारी ।। १३९ ।।
स्नानं हि कृत्वा किल-कोटि-तीर्थे, विधाय सन्ध्यादि समस्त कार्य्यम् ।
अभ्यर्च्य देवांस्वगुरुं प्रणम्य होवाच नीरः सकृताञ्जलिःसुधीः ।।१४०।।

अर्थ—उस सद्धर्म-पर चलने वाले, विद्वानों के सेवक, दीन-जन-पालक, शत्रु-संहारी, देश में शुभ कर्म का प्रचार करने वाले, कुसंग-त्यागी तथा सुसंग-सेवी विद्वान वीर ने, तीर्थ-कोटि के पवित्र जल में स्नान कर, सन्ध्यादि कर्मों से निवृत हो , अपने गुरु और देवताओं को प्रणाम कर, हाथ जोड़, ऋषि से कहा—॥ १३९, १४० ॥

रामस्वरूप उवाच—

स्वामिन्ननुज्ञां विदधातु नो भवाञ्छ्रीमद्वराहानिल-जातयोरहं ।
संकारयिष्ये खलु मन्दिरं दृढम् युष्मत्कृपातस्सपदि प्रसेत्स्यति ।।१४१।।

अर्थ—"हे स्वामिन्! हमें आज्ञा दीजिये, हम श्रीमद्बराह जी और हनुमान् स्वामी के लिये सुन्दर और दृढ़ मन्दिर बनवा दें। प्रभो! यह काम आपकी कृपा से सानन्द सम्पन्न हो।" ॥ १४१ ॥

श्रीगुरु रुवाच—

इत्युक्तवंतं विनयान्वितं तं श्रद्धालु-धुर्य्यं मुनिराह सादरम्।
"वाढंहि वत्से-"ति प्रसन्न-मानसः "शीघ्रं यतस्वे-"ति पुनःस चाह ॥१४२॥

अर्थ—इतनी कथा कह कर श्रीगुरुदेव पुनः बोले, इस प्रकार का सम्भाषण करने वाले उस विनय युक्त और श्रधालु वर्य्य रामस्वरूप सिंह से, अत्यन्त प्रसन्न होते हुए, विमुक्त-वर्य ने कहा—"बहुत अच्छा, वत्स! शीघ्र ही बनवाने का यत्न करो!" ॥ १४२ ॥

ओमित्यनुज्ञां विनिधाय मस्तके, नत्वा मुनीन्द्रं स जगाम सौधम्।
गत्वा समाहूय सु-शील्पकारानाज्ञापयामास भृशं स्वकार्य्यम् ॥१४३॥

अर्थ—ॐ कह कर उनकी आज्ञा शिरोधार्य्य की और प्रणाम करके घर चले गये। जाकर, बहुत से चतुर-शिल्पकारों को बुलाकर अपने कार्य्य के लिये बहुत तरह से आज्ञा दी॥१४३॥

दैवज्ञं च समाहूय, साधयित्वा मुहूर्त्तकम्।
प्रातः समागमद्वीर आदाय सर्व-शिल्पिकान् ॥ १४४ ॥

अर्थ—उस वीर पुरुष ने ज्योतिषियों को बुलवाकर शुभ-मुहूर्त्त सोधवाया और फिर प्रातः काल उन समस्त शिल्पियों को संग ले वहां पहुँचा ॥ १४४ ॥

आगत्य नत्वा मुनि-पाद-पंकजं लब्धाशिषःसर्व-सु-कार्य्य—वेत्ता।
स्वे-स्वे च कार्ये विनियुज्य सर्वानामन्त्रिकांस्तान्स जगाम केतनम् ॥ १४५ ॥

अर्थ—आकर, उस सम्पूर्ण कर्मों के जानने वाले रामस्वरूप सिंह ने मुनि को प्रणाम किया और आशीर्वाद पाने के पश्चात् उन सम्पूर्ण आमन्त्रिकों (शिल्पिकों और कार्य्य कर्त्ताओं) को अपने अपने कामों में लगाकर, घर की ओर प्रस्थान किया ॥ १४५ ॥

भूषस्मवेंदुप्रमिते हि वत्सरे मासोत्तमे फाल्गुण-मास-मध्ये।
शिवस्य रात्र्यां परमोत्तमाया-मगात्समाप्तिं शुभ-मण्डपोऽयम् ॥ १४६ ॥

अर्थ—सम्वत् १६५७ के शुभ फाल्गुण मास की परम पवित्र शिव रात्रि की तिथि को यह मन्दिर समाप्त हुआ ॥ १४६ ॥

स्वल्पेन कालेन हि मन्दिरं महत् पक्वेष्टका-योश्म-मयं महोच्चकम् ।
सुधाविलेपाद्रजताद्रिसंनिभं, विनिर्ममुर्वै कुशलाः सुशिल्पिनः ॥ १४७ ॥

अर्थ—थोड़े ही समय में कुशल शिल्पियों ने पकी ईंट और पत्थर के ऊपर चूना देकर, चाँदी के पर्वत के समान चमकता हुआ एक अत्यन्त वृहत् और ऊँचा मन्दिर वना कर तैयार कर दिया ॥ १४७ ॥

एतादृशं ते विरचय्य्य मन्दिरं निवेदयासुरथात्म-वाहुजे ।

शिल्पिन ऊचुः--

नमोस्तु तुभ्यं जगतां प्रपालक ! सिद्धस्त्वयं ते सुर-मण्डपो महान्॥१४८॥

अर्थ—इस प्रकार के मन्दिर को वनाकर, शिल्पियों ने ईश्वर के वाहुज, क्षत्रिय, से निवेदन किया—"हे संसार के प्रतिपालक ! तुम्हें नमस्कार । प्रभो, यह तुम्हारा देव-मन्दिर तैय्यार है" ॥ १४८ ॥

श्रीगुरुरुवाच—

श्रुत्वा रामस्वरूपोऽसौ, तेषां वाणीं शुभावहाम् ।
सहोच्चचाल तैं द्रष्टुं भगवदालयमद्भुतम् ॥ १४९ ॥

अर्थ—गुरु जी वोले—उनके शुभ-वाहक वाक्यों को श्रवण कर, रामस्वरूप सिंह भी भगवान् के अद्भुत मन्दिर को देखने के निमित्त उनके स्थान चल पड़े ॥ १४६ ॥

आगत्य वीरो ददृशेऽथ मन्दिरम् महाद्भुतं सन्मन एव शुभ्रम् ।
दृष्ट्वा प्रसन्नोऽथ ददौ स तेभ्यो वित्तानुसारेण धनान्नवस्त्रम् ॥१५०॥

अर्थ—आकर उस वीर ने इस शुभ और महाश्चर्य्यमय मन्दिर को देखा और अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्हें यथा-शक्ति धन, अन्न, और वस्त्रादि दिया ॥ १५० ॥

लब्धाशिषस्ते विनिमय्य देवौ, मुनिं च राजन्यवरं हि शिल्पिनः ।
स्वं-स्वं निवेशं प्रगता प्रहृष्टा गत्वा कुटुम्बाय ददुर्धनादिकम् ॥ १५१॥

अर्थ—वे शिल्पी देवताओं, मुनि, और राजर्षि-सत्तम को प्रणाम कर, आशिष पा, अपने-अपने घर गये, और पाये हुए धन-धान्य को अपने कुटुम्बियों का दे डाला ॥ १५१ ॥

होमं विधायाथ स वेदविद्भिर्विप्रैरथैतान्बुभुजे सदन्नैः ।
दत्वा च तेभ्यो विपुलां सुदक्षिणां मुखारविन्दस्य च शुद्धिमग्र्याम् ॥१५२॥

अर्थ—यहाँ पर ठाकुर रामस्वरूप सिंह ने वेद-वेत्ता ब्राह्मणों से होम-यज्ञ करवाया। उसमें अनेकों ब्रह्मणों को सुन्दर अन्न भक्षण करवाकर उन्हें मुख शुद्धि और बहुत सी दक्षिणा दी॥१५२॥

नत्वा च तेषां चरणेषु वीरो लब्धाशिषः प्रीतमना बभूव ।
अन्नादि-दानैर्मधुरैश्च वाक्यैः सन्तोषयमास ततस्स याचकान् ॥१५३॥

अर्थ—उन के चरणों पर गिरकर शुभाशीर्वाद पाया और हृष्ट हो गया। तदनन्तर याचकों को भी अन्नादि देकर और मीठे-मीठे वचनो से सन्तुष्ट कर दिया ॥ १५३ ॥

अथ शिवं शिवदं परिणम्य च हरिमथो नर-सूकर-रूपकम् ।
हरिजनिं स्वगुरुं च जगाम स निज-गृहं कृत-कृत्य उदारधीः ॥ १५४ ॥

अर्थ—उस उदारबुद्धि ने, कल्याण-दान करने वाले, कल्याण-स्वरूप, मनुष्य और सूकर का रूप-धारण करने वाले श्रीमद्यज्ञ-वराह जी और वायु-पुत्र, हनुमान् तथा अपने गुरु-भगवान् को प्रणाम करके, घर की राह ली ॥ १५४ ॥

तावद्य देवौ निज-मन्दिरे स्थितौ लोकांस्तु सर्वान्कुरुतां सुखान्वितान् ।
एतद्धि चार्विर्भवनं सु-देवयोः श्रुत्वा जनो मुच्यति पातकेभ्यः ॥ १५५ ॥

अर्थ—तभी से वे दोनों देव अपने मन्दिर में स्थित रह कर लोकों के जनों को सुखी कर रहे हैं। यही दोनो देवताओं का जल से निकलना है। मनुष्य इसे सुनकर त्रिपापों से विमुक्त हो जाता है ॥ १५५ ॥

श्रीगुरुरुवाच---

एतद्धि सर्वमाख्यातं, यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ।
मूर्त्त्यो र्निर्माणवाः पातवाविर्भावस्तयोर्यथा ॥ १५६ ॥

अर्थ—श्री गुरुजी ने कथा-समाप्त करके कहा—मूर्त्तियों का निर्माण, उनका जल में गिरना और फिर से निकलना, जैसा तुमने मुझ से पूछा था, यह मैंने सब कह सुनाया ॥ १५६ ॥

इति श्रीमद्वराह-चरित्रे श्रीमद्वराह-हनुमतोर्गोमत्या निःसारणो पुनः स्थापन मन्दिर-निर्माण वर्णनो नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार छठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

सप्तमः सर्गः ।

शिष्यउवाच---

श्रुत्वैतदद्भुतं ब्रह्मन्नितिहासं पुरातनम् ।
जातोऽहं गत-सन्देहो गतो वै कृत-कृत्यताम् ॥ १ ॥

अर्थ—जब दयालु गुरु ने, शिष्य के प्रश्न का सम्यग् रूप से उत्तर देकर कथा समाप्त की तो, शिष्य भी उस से प्रसन्नता और कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहता है—'हे ब्रह्मन् ! इस अद्भुत पुराने इतिहास को सुनकर मैं सन्देश-रहित हो गया—अब मुझे कुछ भी नहीं पूछना है। और, आप की इस करुणा से, कृत-कृत्य भी हो गया ॥ १ ॥

अधुना श्रोतुमिच्छामि, भगवन्मुख-पंकजात् ।
माहात्म्यं कोटि-तीर्थस्य, दुग्ध-नाथ-शिवस्यवै ॥ २ ॥
तथा श्रीमद्वराहस्य, राम-दूतस्य वै तथा ।
दर्शनात्स्पर्शनात्स्नानात्पानाद्यो जायते वृषः ॥ ३ ॥
ईक्षणात्पूजनात्स्तोत्रान्ममनाच्चैव यद्भवेत् ।
पुण्यं देवत्रयाणां वै तद्ब्रूयं वक्तुमहर्थ ॥ ४ ॥

अर्थ—"हे भगवान् ! अब आपके मुखारविन्द से यही सुनना चाहते हैं कि शिव-रूप, महादेव, दुग्धनाथ, श्रीमद्यज्ञ-वराह, श्रीरामचन्द्र के दूत, हनूमान्, और तीर्थ कोटि का क्या माहात्म्य है। हे विभो ! इनके दर्शन-स्पर्शन, स्नान, पान, पूजा, स्तोत्र-पाठ इत्यादि से जितने पुण्य होते हैं, कृपया कहिये। आप ही इन तीनों देवों की महिमा का वर्णन करने में समर्थ हैं ॥ २, ३, ४ ॥

यतिरुवाच—

एवं संपृष्ट-संप्रश्नो गुरुर्ज्ञानवतां वरः ।
प्राह शिष्याय धर्मात्मा शुश्रूषा-विनयान्विते ॥ ५ ॥

अर्थ—ग्रन्थकार यतिवर श्रीमदचलानन्द जी कहते हैं—इस प्रकार के प्रश्नों के पूछे जाने पर उन ज्ञानि-शिरोमणि गुरु-वर्य्य ने अपने सेवा और विनय से संयुक्त शिष्य से कहना आरम्भ किया ॥ ५ ॥

श्रीगुरुरुवाच—

सम्यक् पृष्टं त्वया वत्स! सात्विक्या श्रद्धया यतः ।
अतो वक्ष्ये तव प्रश्नं, सावधानमनाः शृणु ॥ ६ ॥

अर्थ—गुरुजी ने शिष्य के पुनः किये गये प्रश्न को सुनकर उसकी श्रद्धामयी बुद्धि की प्रशंसा की और प्रसन्नता प्रकाश करते हुए पुनः अपने महद्ज्ञान-सागर से उठी हुई धर्म-तत्व-सम्बन्धिनी तरंग-मालाओं से श्रद्धालु शिष्य के ऊर्वर-भूमि को प्लावित करने लगे—हे प्राण-प्रिय वत्स! तुमने ठीक ही पूछा है। क्यों न हो—हो तो सात्विक बुद्धि के। अच्छा, अब मैं तुम्हारे प्रश्न का उत्तर देता हूं; सावधान-चित्त हो सुनो ॥ ६ ॥

अत्र ते कथयिष्येहमितिहासं पुरातनम् ।
मुनेर्मंकण-संज्ञस्य, ज्वर-सन्तापितस्य वै ॥ ७ ॥

अर्थ - यहाँ पर मैं तुम्हें एक पुराना इतिहास सुनाता हूँ। वह ज्वर से पीड़ित "मंकण" नामक मुनि के विषय में कहा जाता है ॥ ७ ॥

आसीन्मुनिर्महातेजा मंकणो नाम नामतः ।
तस्य जन्मान्ताराघेन ज्वरो जातोऽमहानहो ! ॥ ८ ॥

अर्थ—पूर्व-काल में "मंकण" नामक कोई महातेजवान् मुनि रहते थे। उनके पूर्व्व-जन्म के पापों के कारण असह्य ज्वर आने लगा ॥ ८ ॥

य आयाति तृतीयेऽन्हि व्यवधाय दिनद्वयम् ।
अतस्तं तार्तिकं प्राहुर्वैद्य-शास्त्र-विशारदाः ॥ ९ ॥

अर्थ—यह ज्वर दो दिन का अन्तर देकर तीसरे दिन आता है। अतएव वैद्यक-विद्या के जानकार इसे "तार्तिक" कहते हैं ॥ ९ ॥

तेन ज्वरेण सन्तप्तो मुनिर्धमनि सन्ततः ।
बभ्राम भारते-खण्डे ज्वर-नाशव्यपेक्षया ॥ १० ॥

अर्थ--यह ज्वर मुनि की धमनी में सदा विद्यमान रहता था। इस ज्वर से छुटकारा पाने के लिये वे समग्र भारतवर्ष घूम आये—॥ १० ॥

स स्नातः सर्व-तीर्थेषु यानि सन्तीह भूतले ।
पुपूज देवताः सर्वा अर्चिता या फल-प्रदाः ॥ ११ ॥

अर्थ—और, इस भूमण्डल के सम्पूर्ण तीर्थों में भी स्नान किया; जितने फल-देने वाले देवी-देवता हैं, सब की पूजार्चा भी की ॥ ११ ॥

ओषधीः सेविताः सर्वा मन्त्र-यन्त्राणि सर्वशः ।
अनुष्ठिताप्यतियत्नेन न ज्वरोऽदर्शनं गतः ॥ १२ ॥

अर्थ—औषधियों का भी खूब सेवन हुआ; मन्त्र-यन्त्र की भी सब प्रकार से दुहाई दी गई, यत्न-पूर्वक अनुष्ठान किया गया; किन्तु, फल में, ज्वर ज्यों का त्यों बना रहा--उसका घाट न छूटा ॥ १२ ॥

एवं यत्नं समातिष्ठन्कदाचिद्गोमती-तटम् ।
यदृच्छया गतो धीरोऽवसाने पाप-कर्मणः ॥ १३ ॥

अर्थ—इस भाँति यत्न करते-करते, किसी समय, पूर्व-पाप-कर्मों के अवसान में, योंही, घूमते-फिरते, श्री गोमती के किनारे पर पहुँच गये ॥ १३ ॥

कोटि-तीर्थे ततः सस्नौ श्रद्धया परयान्वितः ।
ततः सन्ध्यां विधायासौ, गायत्रीं प्रजजाप ह ॥ १४ ॥

अर्थ—अथ, वहां के तीर्थ-कोटि में परम श्रद्धा-भक्ति से स्नान किया, और तब सन्ध्योपासना करके गायत्री मन्त्र का जाप करने लगा ॥ १४ ॥

जप्त्वा जगाम मेधावी शिव-पूजन-लालसः ।
अर्चयित्वा शिवं प्रेम्णा गतो देवालयं त्वथ ॥ १५ ॥

अर्थ—जाप कर चुकने पर शिव की पूजा की अभिलालसा से तट पर गया । प्रेम पूर्वक पूजा के पश्चात् वह फिर उस अद्भुत देव-मन्दिर में भी गया ॥ १५ ॥

गत्वा ददर्श देवेशं श्रीवराहं बृहत्तनुम् ।
तथैव राम-दूतञ्च, दैत्यारण्य-हुताशनम् ॥ १६ ॥

अर्थ—जाकर उन विराट्-काय श्रीमद्यज्ञ-वराह और भगवान् श्रीरामचन्द्र के प्रिय दूत, दैत्यों के वंश-रूप-जंगल के जलाने वाले अग्नि की नाईं हनुमान के दर्शन किये ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा विधिवदानर्च्य तोय-पुष्प दलादिभिः ।
ततः प्रदक्षिणां कृत्वा देवावस्तौत्प्रसन्न-धीः ॥ १७ ॥

अर्थ—दर्शन करके जल-फल-फूलादि से यथा-रीति उनकी पूजा की और दोनों की प्रदक्षिणा करके, उस हृष्ट-धी मुनि ने इन देवतावों की स्तुति की—॥ १७ ॥

स्तोत्राभ्यां च नृपोक्ताभ्यां पादयोश्च नतिं व्यधात् ।
ततस्तु संमुखे तस्य श्रीवराहस्य बुद्धिमान् ॥ १८ ॥

वद्ध्वासनो जिताक्षश्च सन्मुखेर्पित-दृष्टिकः ।
उपविष्टो जञ्जाप्यं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १९ ॥

अर्थ—श्रीमद्वराह जी के संमुख आसन-बांध, आँखों को वशीभूत करके, उन्हीं के मुख पर इक टक लगाये, किसी भी दिशा में न देखते हुए, बैठे योगारम्भ किया ॥ १८, १९ ॥

एवं कृतेऽस्य नायातो ज्वरो वै दारुणो महान् ।
तेजसा श्रीवराहस्य पुरा-पापस्य च क्षयात् ॥ २० ॥

अर्थ—ऐसा करने से, श्रीमद्यज्ञवराहजी के प्रताप से तथा जन्मान्तर के पापों के नाश हो जाने से वह दारुण ज्वर फिर उसे न आया ॥ २० ॥

ततः प्रसन्न-हृत्पद्मो नमस्कृत्य पुनः पुनः ।
श्रीवराहं स शुद्धात्मा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २१ ॥

अर्थ—तदनन्तर हृदय से अत्यन्त प्रसन्न होकर उसने श्री वराहजी को बार बार प्रणाम किया और ये वाक्य कहे—॥ २१ ॥

मंकण उवाच—

"एकान्हिक-तृतीयाभ्यां चातुर्थिकेन वा पुनः ।
येन केनापि सन्तप्ता ज्वरेण मनुजा भुवि ॥ २२ ॥
ये स्नात्वा कोटि तीर्थेस्मिन्प्रपूज्य च महेश्वरम् ।
तथा श्रीवराहं च सदासं परिपूज्य वै ॥ २३ ॥
अस्याग्रे चोपनिर्विश्य जपंतो मन्त्रमद्भुतम् !
आशाश्चानवलोकन्तो वदने दत्त-दृष्टयः ॥ २४ ॥

अर्थ—"नित्य आने वाले, अन्तरिया, चौथिया अथवा किसी ज्वर से भी कोई संसार मेँ क्यों न पीड़ित हो, यदि वह तीर्थ-कोटि मेँ स्नान करके महादेवजी की पूजाकरे और श्री मद्व-राह जी की पूजा करके उनके संमुख अन्य दिशाओं का देखना छोड़कर, उन्हीं के मुख की ओर एक-दृष्टि होकर, अद्भुत गायत्री मन्त्र का जाप करते हुए, खड़ा होकर ॥ २२, २३, २४ ॥

"एवं व्रतं करिष्यन्ति श्रद्धया परयान्विताः ।
तेषां ज्वरा विनश्यन्ति सत्यमेतद्ब्रवीम्यहम्" ॥ २५ ॥

अर्थ—जो इस प्रकार व्रत करैगा, उसका ज्वर अवश्यमेव नष्ट हो जायगा। मेरा यह बचन सदा सत्य होगा ॥ २५ ॥

श्रीगुरुरुवाच—

एतावदुक्त्वा स मुनिर्महात्मा दिनत्रयं तत्र चकार वासम् ।
स्नानं च सन्ध्यां सुर-पूजनादिकं चकार नित्यं हि तपस्वि-वर्य्यः ॥ २६ ॥

अर्थ—कथा की शैली जोड़ते हुए गुरुजी ने अपने शिष्य को फिर सम्बोधित किया—हे वत्स ! इतना कहकर उन तपस्वि-पुंगव मुनि-महामना ने, स्नान, सन्ध्या, और देव-पूजन करते हुए, तीन दिन तक वहाँ निवास किया ॥ २६ ॥

एवं समादिश्य जनाञ्जितेन्द्रियःप्रणम्य देवान्प्रणतार्ति-हारिणः ।
प्रेम्णा प्रशंसन्परमेण सर्वाञ्जगाम धीमान्निजमाश्रमं ततः ॥ २७ ॥

अर्थ—उन इन्द्रिय-जित ऋषि ने इस प्रकार का आदेश दे, शरणागत भक्तों के दु:खों को विनाश करने वाले देवताओं को प्रणाम कर, प्रेम से उन सबकी प्रशंसा करते हुए, अपने आश्रम को प्रस्थान किया ॥ २७ ॥

एतत्ते सर्वमाख्यातं मंकणस्य महामुनेः ।
चरितं परमाश्चर्य्यं श्रवणत्पाप-नाशनम् ॥ २८ ॥

अर्थ—यह तो मैंने "मंकण" उपाधिधारी महामुनि का परमाश्चर्यमय, सुनते ही पापों का विच्छेदन करने वाला, चरित्र सुनाया है; अब—॥ २८ ॥

शृणुस्वान्यत्प्रवक्ष्यामि सर्व-पाप-प्रणाशनम् ।
कोटि-तीर्थस्य माहात्म्यं सर्व-काम-फल-प्रदम् ॥ २६ ॥

अर्थ—कोटि तीर्थ का एक दूसरा ही पापों का नाशक करने वाला और सम्पूर्ण अर्थ को देनेवाला माहात्म्य वर्णन करता हूं। उसे ध्यान से सुनो ॥ २६ ॥

यः स्नायात्प्रातरुत्थाय शुचिर्भूत्वा हि मानवः ।
यावदायुर्हि तीर्थेऽस्मिन्स याति परमां गतिम् ॥ ३० ॥

अर्थ—जो मनुष्य निष्कपट-भाव से जीवन भर, नित्य प्रातः काल उठ कर इस कोटि तीर्थ में स्नान करे तो वह परम-गति (मोक्ष-धाम) को प्राप्त हो ॥ ३० ॥

स्नानाद्धि सर्व-तीर्थेषु यत्फलं लभते नरः ।
तत्फलं समाप्नोति कोटि-तीर्थस्य मज्जनात् ॥ ३१ ॥

अर्थ—जितने फल मनुष्य को भूतल के समस्त तीर्थों के स्नान-दान से प्राप्त होते हैं, वे सब केवल कोटि तीर्थ के ही स्नान से मिल जाते हैं ॥ ३१ ॥

यत्पुण्यं लभते स्नानाद्गंगायां शुद्ध-मानसः ।
तत्पुण्यं श्रद्धया स्नातः प्राप्नोतीह न संशयः ॥ ३२ ॥

अर्थ—शुद्ध हृदय मनुष्य श्री गंगा जी में स्नान कर के जिस पुण्य की आशा करता है, निस्सन्देह वही पुण्य इसमें भी स्नान करने से प्राप्त होता है ॥ ३२॥

उपरागे च सूर्य्यस्य कुरु-क्षेत्रे विमज्जनात् ।
यत्पुण्यं तदिहाप्नोति स्नानान्नात्र विचारणा ॥ ३३ ॥

अर्थ—श्री कुरु-क्षेत्र में पवित्र धाम में सूर्य्य-ग्रहण के समय मज्जन करने का फल भी यहीं स्नान करके मनुष्य पा सकता है, इस में विचारने की कोई बात नहीं ॥ ३३ ॥

यच्चन्द्र-ग्रहणे पुण्यं काश्यां प्रोक्तं महर्षिभिः ।
तत्स्नानादत्र लभ्येत शशांक-ग्रहणे नरः ॥ ३४ ॥

अर्थ—महर्षियों के कहे हुए चन्द्र-ग्रहण के समय काशी स्नान के तुल्य ही यहाँ भी चन्द्र-ग्रहण स्नान का पुण्य होता है ॥ ३४ ॥

यत्पुण्यं भवति स्नानान्मकरस्थे दिवाकरे ।
प्रयागे तदिहाप्नोति माघ-स्नानान्न संशयः ॥ ३५ ॥

अर्थ—प्रयाग में मकर-संक्रान्ति के पुण्य-स्नान के फल के समान ही इस में भी लोग माघ-मास में स्नान करके निस्सन्देह फल पा सकते हैं ॥ ३५ ॥

द्वादश्यां विधुनाशे च पूर्ण-मास्यां हि मानवः ।
यः स्नायात्कोटि-तीर्थेऽस्मिन्भुक्ति-मुक्ती लभेत सः ॥ ३६ ॥

अर्थ—जो मनुष्य प्रत्येक अमावस्या, द्वादसी और पूर्णिमा तिथियों को इस तीर्थ कोटि में स्नान करेगा, वह इस लोक मेँ धन-धान्य से सुखी होकर, अन्त में, संसारिक दुःखों से मुक्त हो जायगा ॥ ३६ ॥

फाल्गुनस्याऽसिते पक्षे चतुर्दश्यां हि मानवाः ।
ये स्नास्यन्ति च तीर्थेऽस्मिंस्ते यास्यन्ति परं पदम् ॥ ३७ ॥

अर्थ--उसी प्रकार जो लोग फाल्गुण मास के कृष्ण-पक्ष की चतुर्दशी तिथि को इस पावन तीर्थ में नहायँगे, वे परम—धाम पायँगे ॥ ३७ ॥

ज्येष्ठ-मासे सिते पक्षे, दशमीहस्त-संयुता ।
यदि लभ्येत सा भाग्यात्तस्याः पुण्य-फलं शृणु ॥ ३८ ॥

अर्थ—यदि भाग्य से जेष्ठ मास के शुक्ल-पक्ष की द्वादशी को स्नान का अवसर मिल जाय, तो उसका पुण्य-कथन सुनो ॥ ३८ ॥

तस्यां स्नायन्ति ये जीवा स्तीर्थेऽस्मिञ्छुद्ध-मानसाः ।
नरा वाथवा नार्य्यस्ते यास्यन्ति परमां गतिम् ॥ ३९ ॥ ॥

अर्थ—उस दिन निश्छल-हृदय होकर स्नान करने वाले, चाहे पुरुष, चाहे स्त्री, परमगति (मुक्ति-तत्व) के अधिकारी हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

यस्मिन्वर्षे प्रजायेत मल-मासोऽति पुण्यदः ।
अधिमास इति ख्यातः पुरुषोत्तम इत्यपि ॥ ४० ॥
तस्मिन्मासे तु यः स्नायात्कोटि-तीर्थे समाहितः ।
नरो वाप्यथवा नारी षण्डो वापि निरन्तरम् ॥ ४१ ॥
गङ्गा-स्नानेन यत्पुण्यं काशी-प्रदक्षिणेव च ।
तत्पुण्यं लभते सोऽपि नात्र कार्य्या विचारणा ॥ ४२ ॥

अर्थ—जिस वर्ष पुण्यप्रद "मलमास," जिसे "अधिमास" और "पुरुषोत्तम" भी कहते हैं, लगता है,उस वर्ष जो पुण्यात्मा मनुष्य, अथवा, स्त्री, को श्री गङ्गा-स्नान और काशी की पंच-कोशी यात्रा के करने से लाभ होता है यही यहाँ भी नियम पूर्वक स्नान करने से प्राप्त होता है ।. इस में विचार करने से कोई भी आवश्यकता नहीं ॥ ४०, ४१, ४२ ॥

श्रीगुरुरुवाच—

एतत्ते कथितं तात ! संक्षेपेण यथा श्रुतम् ।
माहात्म्यं कोटि तीर्थस्य कृत्स्नं वक्तुं च कः क्षमः ॥ ४३ ॥

अर्थ—इतना माहात्म्य कहकर, गुरु महाशय ने पुनः अपने पुरा-तत्व-प्रेमी शिष्य का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया—"हे तात! हे प्रिय! यह तो जैसा कुछ सुना गया है, संक्षेपतः माहात्म्य कह दिया; पर इस तीर्थ का सम्पूर्ण गौरव कहने को किसमें क्षमता (शक्ति) है? ॥ ४३ ॥

अथ ते कथयिष्यामि शृणुस्वावहितो मुने ।
माहात्म्यं दुग्ध-नाथस्य पापकक्ष-हुताशनम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—अब, हे मुने! सुनो, मैं तुम से पाप के घर को समूल जलाकर नष्ट कर देने वाले अग्नि-देव के समान श्रीदुग्धनाथ महादेव का माहात्म्य वर्णन करता हूँ ॥ ४४ ॥

ये स्नात्वा कोटि-तीर्थेऽस्मिन्दुग्धनाथं शिवं जनाः ।
श्रद्धया पूजयिष्यन्ति ते यास्यन्ति पदं हरेः ॥ ४५ ॥

अर्थ—जो लोग इस तीर्थ-कोटि में स्नान करके श्रद्धा से कल्याण-मय श्रीदुग्धनाथ की पूजा करेंगे, वे हरि-पद पाने के भागी होंगे ॥ ४५ ॥

उपोष्य वानुपोष्यैव शिवरात्र्यां समाहिताः ।
श्रद्धया परयोपेता यद्यन्ते हि शिवं जनाः ॥ ४६ ॥

बदरेक्ष्वर्क-धत्तूर-पुष्पैस्तण्डुल-बारिभिः ।
कोमलैर्बिल्व-पत्रैश्च गो-क्षीरसेचनैस्तु ये ॥ ४७ ॥

अर्थ—फाल्गुण शिवरात्रि को भूखा रह कर वा खाकर, संयमशील हो, जो लोग, परम-भक्ति से भर कर, बैर, ईख, मन्दार और धतूर के पुष्पों तथा अक्षत और जल एवं कोमल-कोमल बेल-पत्रों तथा गो-दुग्ध से, शंकर जी की अर्चा करते हैं, वे—॥ ४६, ४७ ॥

इह लोके सुखं भुक्त्वा देवानामपि दुर्लभम् ।
भुक्त-भोगास्ततस्ते वै प्रयास्यन्ति शिवं शिवाः ॥ ३८ ॥

अर्थ—इस लोक में तो सुर-दुर्लभ सुख-भोगते हैं, और अन्त में शिव-रूप हो परमगति को प्राप्त करते हैं ॥ ४८ ॥

तथा वै ज्येष्ठ-शुक्लायां दशम्यां चैव ये जनाः ।
यद्यन्ते दुग्धनाथं ते गच्छन्ति शिवं मुदा ॥ ४९ ॥

अर्थ—उसी प्रकार ज्येष्ठ के दशहरे को भी शिव (दुग्धनाथ) के पूजने वाले प्रसन्नता पूर्वक वही स्थान पाते हैं ॥ ४६ ॥

श्रीगुरुरुवाच--

इति तेऽभिहितं वत्स ! दुग्धनाथस्य शूलिनः ।
माहात्म्यं परमोदारं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ? ॥ ५० ॥

अर्थ—गुरुजी फिर शिष्य को दुग्धनाथ की महिमा सुनाकर, उसको आगे क्या सुनने की इच्छा है, पूछते हैं—हे प्रिय-दर्शन ! लो, मैंने शूल-प्राणी महादेव दुग्धनाथ की महामहिमा भी तुम्हें सुना दी । अब, कहो, क्या सुनना चाहते हो ? ॥ ५० ॥

शिष्य उवाच--

भगवान् ! भगवतो मेऽद्य श्रुतं माहात्म्यमुत्तमम् ।
कोटि-तीर्थस्य मेधाविन् ! महादेवस्य वै तथा ॥ ५१ ॥

अर्थ—उनकी ऐसी कृपा देख कर कृतज्ञता और विनय के भार से दबे हुए शिष्य ने भी, अपनी सहज-प्रीति प्रदर्शित करते हुए, निवेदन किया—"हे भगवन् ! आपके अनुग्रह से मैंने आज यह महादेवजी और कोटि-तीर्थ का महाद्भुत और अनुत्तम माहात्म्य सुन लिया । अब, हे मेधाविन् ! ॥ ५१ ॥

अथाहं श्रोतुमिच्छामि माहात्म्यं परमाद्भुतम् ।
श्रीमद्वराह-रूपस्य राम-दूतस्य वै पुनः ॥ ५२ ॥

अर्थ—श्रीमद्वराह जी और श्रीरामचन्द्र जी के सेवक, हनुमान्, का अनुत्तम और आश्चर्य्यमय महात्म्य सुनना चाहता हूँ; अथवा—॥ ५२ ॥

यौ वै जघान हिरण्याक्षं सृष्टेरादौ महासुरम् ।
शृणुयात्कोन तस्येह माहात्म्यं मुक्ति-दायकम् ॥ ५३ ॥

अर्थ—जिन्होंने सृष्टि के आदि में हिरण्याक्ष जैसे महासुर का विनाश किया, उनके मोक्ष-दान करने वाले क्या महात्म्य हैं, यही सुनना चाहता हूँ ॥ ५३ ॥

यतिरुवाच---

इति संप्रार्थितो लोकाः गुरुः शिष्येण धीमता ।
प्राह तं परमप्रीत्या स्मरन्देवं सनातनम् ॥ ५४ ॥

अर्थ—ग्रन्थकार कहते हैं—इस प्रकार से बुद्धिमान् शिष्य के प्रार्थना करने पर, सनातन भगवान् का ध्यान करते हुए, श्रीगुरु महाशय ने फिर उससे कथा कहनी प्रारम्भ की—॥ ५४ ॥

श्रीगुरुरुवाच---

शृणु वत्स ! वदिष्यामि माहात्म्यं दुःख-नाशनम् ।
श्रीवराह-देवस्य मारुतेश्च शिव-प्रदम् ॥ ५५ ॥

अर्थ—हे प्रिय दर्शन ! सुनो, मैं श्रीमद्वराह स्वामी और मारुती,हनुमान्.के दुःख दूर करने वाले और मंगल-प्रदायक माहात्म्यों को कहता हूँ ॥ ५५ ॥

कोटि-तीर्थ-जले स्नात्वा ध्यात्वा स्वेष्ट-देवताम् ।
तज्जलं सम्यगादाय शस्तं पुष्प-दलादिकम् ॥ ५६ ॥
तथाति कोमलान्यंग श्रीमत्तुलस्या दलानि वै ।
देव-स्थानं ततो गत्वा नत्वा देवं समाहिताः ॥ ५७ ॥
विधिवत्पूजयिष्यन्ति, प्रेम्णा देवौ क्रमेण ये ।
भुक्त्वा भोगान्सुरप्रार्थ्यांस्ते यास्यन्ति परां गतिम् ॥ ५८ ॥

अर्थ—जो मनुष्य तीर्थ-कोटि के जल में स्नान करके, और अपने इष्ट देव का स्मरण कर, उसी तीर्थ का जल एवं सुन्दर-सुन्दर पुष्प-पत्र तथा तुलसी के कोमल-कोमल अंग (पत्ते) लेकर तत्रस्थ देवालय में जाते और देव-मूर्त्तियों को नमस्कार करके यथाशास्त्र, भक्ति-सहित, पूजा करते हैं, वे देवताओं के योग्य भोग का इस लोक में उपभोग करते और अन्त में बैकुण्ठ वासी होते हैं ॥ ५६, ५७, ५८ ॥

शिवरात्रो तथा देवावर्चयिष्यन्ति च ये नराः ।
ते वनिता-सुत-वित्तादीन्भुक्त्वा यास्यन्ति सद्गतिम् ॥ ५६ ॥

अर्थ—शिवरात्रि को उसी विधि से पूजने वाले भी स्त्री-पुत्र और धनादि का सुख पाकर सद्गति के भाजन होते हैं ॥ ५६ ॥

एकादश्याममावस्यायां पूर्णिमायां च मानवाः ।
द्वादश्यां पूजयिष्यन्ति, श्रीवराहं कपिं च ये ॥ ६० ॥

ते लोके सुखिनो भूत्वा, यास्यन्त्यपुनरागतिम् ।
विश्वसितव्यमेतद्धि व्यासेनोक्तं महर्षिणा ॥ ६१ ॥

अर्थ –प्रतिमास की एकादसी, अमावस्या, पूर्णिमा और द्वादशी तिथियों को श्रीमद्वराह और कपि, हनुमान, की पूजा करने वाले लोक में सुखी होकर अन्त में आवागमन से मुक्तहोकर अमृत हो जाते हैं। यह महर्षि वैशम्पायन वेद व्यास का वचन है। इसे परम विश्वासनीय समझना चाहिये ॥ ६०, ६१ ॥

यस्मिन्दिने तु लोकेऽस्मिन्होलिका दह्यते खलु ।
तत्प्रभाते हि ये गत्वा दुग्धनाथं शिवं नराः ॥ ६२ ॥
श्रीवराहं हनूमन्तं नानारंगैः सुशोभनेः ।
प्रेम्णा वै स्नायष्यिन्ति नृत्य-गीतादिभिः सह ॥ ६३ ॥

तेऽस्मिल्लोके भविष्यन्ति महाभोजा महाधनाः ।
स्त्रीरत्नैः पुत्र-रत्नैश्च भृत्य-रत्नैर्हि संयुताः ॥ ६४ ॥
महामान्या महाशीला महतां चैव वल्लभाः ।
महनीय-यशोयुक्ता मनोज्ञाश्च महाजनाः ॥ ६५ ॥

अर्थ—होलिका-दहन के दिन जो लोग कोटितीर्थ में स्नानकर के महादेव, दुग्धनाथ, श्रीमद्वराह और हनुमान जी की नाना-भाँति के रंगों और नृत्य-वाद्य-गीतों से भक्ति-मयी पूजा

करते हैं; इस लोक में महाभोजन देने वाले, बड़े धनिक और स्त्री-पुत्र तथा नौकरों से युक्त होते हैं ! इसीप्रकार महामान्य, महाशील, राज-राजेश्वर,महनीय यशो भाजन, मनोज्ञ, महाजन और—॥ ६२, ६३, ६४, ६५ ॥

द्विषतां मान-हन्तारो महतां मान-वर्द्धनाः ।
धर्मात्मानः कृत ज्ञाश्च कृतज्ञ-जन-सेविताः ॥ ६६ ॥

अर्थ—शत्रुओं के अभिमान को चूर करने वाले, सज्जनों के मान-रक्षक, धर्म-बुद्धि, कृतयज्ञ और कृतज्ञ पुरुषों से संसेवित—॥ ६६ ॥

इत्थं भूताहिते भूत्वा भुक्त्वा भोगानशाश्वतान् ।
कीर्त्तिं लोके वितायान्ते मुक्तिं यास्यंति दुर्लभाम् ॥ ६७ ॥

अर्थ—इत्यादि उपाधियों के योग्य होकर यहाँ का अस्थिर सुख तो भोगते ही हैं, अन्त में, यश छोड़ते हुए, दुष्प्राप्य मुक्ति-पद को भी प्राप्त कर लेते हैं ॥ ६७ ॥

वैशाख-मासे सिते पक्षे, द्वितीयायां च मानवाः ।
कोटितीर्थे कृत-स्नानास्तृतीयायां तथैव च ॥ ६८ ॥

श्रीवराहं च ये भक्त्या पूजायिष्यन्ति सुव्रताः ।
ते प्राप्स्यन्ति मुनि प्राप्तां मुक्तिं नैवात्र संशयः ॥ ६९ ॥

अर्थ—वैशाख मास के शुक्लपक्ष की द्वितीया और तृतीया तिथियों को भी जो लोग कोटि तीर्थ में स्नान करके श्रीवराह जी की आराधना करते हैं, वही सद्गति पाते हैं, जो योगधारी महामुनियों को प्राप्त होती है। अर्थात् मुक्त हो जाते हैं ॥ ६८, ६९ ॥

ज्येष्ठमासे सिते पक्षे दशम्यां प्रेम-संयुताः ।
कोटितीर्थे तु ये स्नात्वा गोमत्यां पावने परे ॥ ७० ॥

तज्जलेन महादेवं शंकरं शिवमव्ययम् ।
श्रीवराहं सुरैः सेव्यं हनुमन्तं महावलम् ॥ ७१ ॥

पूजयिष्यन्ति वै प्रीत्या, श्रद्धया परयान्विताः ।
तस्य तेषां पदं दत्वा मूर्ध्नि यास्यन्ति सद्गतिम् ॥ ७२ ॥

अर्थ—ज्येष्ठ मास के शुक्ल-पक्षकी दशमी तिथि को प्रेम से युक्त हो कर कोटि तीर्थ के पवित्र जल मेँ जो स्नान करते हैं और उसी का जल लेकर अव्यय शंकर जी की तथा सुर-पूजित श्रीमद्वराह जी तथा महावीर हनुमान जी की शुभ श्रद्धायुक्त पूजा करेंगे, वे उनके पदों को शिर पर धर कर, अन्त मेँ, सद्गति प्राप्त करेँगे ॥ ७०, ७१, ७२ ॥ ॥

यस्मिन्कस्मिन्दिने चैव ग्रहणे चन्द्र-सूर्य्ययोः ।
देवं देवौ च ये भक्त्या परयार्चन्ति मानवाः ॥ ७३ ॥
कोटितीर्थ-कृत-स्नाना वारि-पुष्प-दलादिभिः ।
गो-सहस्र-प्रदानस्य फलं प्राप्स्यन्ति ते ध्रुवम् ॥ ७४ ॥

अर्थ—जिसी-किसी दिन, वा चन्द्र-सूर्य्य-ग्रहणों के दिन, जो लोग पराभक्ति युक्त हो शिव जी और वराह, और हनुमान् की, कोटि तीर्थ मेँ स्नान करके, जल और फूल-पत्तों से पूजा करेंगे वे निश्चय ही सहस्त्र गो-दान का फल पावेंगे ॥ ७३, ७४ ॥

संक्रान्तौ व्यतिपाते च यत्र क्वच दिनेऽपिवा ।
स्ववित्तस्यानुसारेण ब्राह्मणान्भोजयन्ति ये ॥ ७५ ॥
चतुर्विधेन चान्नेन श्रद्धालवो न सूपवः ।
अन्यत्रास्माच्छत-गुण-पुण्यं तेषां भवति निश्चितम् ॥ ७६ ॥

अर्थ—संक्रान्ति उपस्थित होने पर वा, जिसीही किसी दिन जो मनुष्य श्रद्धालु रसोइयों द्वारा चारों प्रकार--भोज्य (जो साधारणतः भोजन करते हैं), भक्ष्य (जिसे चबाकर भक्षण करते हैं) लेह्य, (जिसे चाटते हैं) और चोष्य (जिसे चूसकर खाते हैं)--के भोजनों से ब्राह्मणों को वित्तानुसार यहाँ भोज देते हैं, दूसरी जगह देने की अपेक्षा सौगुण अधिक पुण्य होता है। यह बात निश्चय है ॥ ७५, ७६ ॥

ज्येष्ठ-शुक्ल-नवम्यां च दशाम्यां चैव नराः !
एकादश्यां तथा दीपं प्रदास्यन्त्यति शोभनम् ॥ ७७ ॥

घृतपूर्णं चतुर्थ्यातीं श्रीवराहस्य मन्दिरे ।
तेऽस्मिँल्लोकेऽति सौभाग्या धन-धान्य-समन्विताः॥ ७८ ॥
दारापत्यादि संयुक्ताः सपाशु-भृत्य-वान्धवाः ।
सर्व-लोकैः सुसन्मान्या देवतातिथि-पूजकाः ॥ ७६ ॥
ब्रह्मण्या धर्म-शीलाश्च, वेद-मार्ग-रताः सदा ।
एतत्प्रभाव-संयुक्ता भविष्यन्ति न संशयः ॥ ८० ॥

अर्थ—ज्येष्ठ के शुक्ल पक्ष के नवमी, दशमी और उसी प्रकार एकादशी तिथियों को घृत और शुभ वत्तियों से सजे हुए दीपकों को जो लोग श्रीमद्वराह जी के मन्दिर में रखते हैं, वे संसार में महाभाग्य, धन-धान्य-पूर्ण, पुत्र-कलत्रादि और दासों एवं वन्धु-बाँधवों समेत, जगत्पूज्य, देवता और अभ्यागतों की पूजा करने वाले, ब्रह्मज्ञ, वैदिक-धर्मानुयायी एवं धर्म-शील इत्यादि उपाधियों से विभूषित हो कर सुख भोगते हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ ७७, ७८, ७६, ८० ॥

ततः संस्थाप्य लोकेऽस्मिन्पुत्र-पौत्रादि-सन्ततिम् ।
ताञ्च धर्मान्समादिश्य लौकिकान्वैदिकान्तथा ॥ ८१ ॥

आयुषोऽन्ते विहायाथो नवद्यं स्वं कलेवरम् ।
ब्रह्मलोकं गमिष्यन्ति सर्व-लोक-नमस्कृतम् ॥ ८२ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् जगत् में पुत्र-पौत्रों को छोड़ कर, उन्हें लौकिक और वैदिक दोनों धर्मों की शिक्षायें देकर, आयु के पूर्ण हो जाने पर, नया शरीर धर कर सम्पूर्ण लोकों से नमस्कार किये हुए, ब्रह्म-मण्डल में पधारेंगे ॥ ८१, ८२ ॥

ततस्तु ब्रह्मणा साकं भुक्त्वा भोगानलौकिकान् ।
तेन सार्द्धं विशन्ति स्म पदं निर्मायमव्ययम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—वहाँ परलोकोत्तर सुखों का उपभोग करने के उपरान्त, ब्रह्म के साथ ही, मयारहित और चिरस्थायी पद (अर्थात् अमरत्व) में प्रवेश करेंगे ॥ ८३ ॥

श्रीगुरुरुवाच—

एतत्त उदितं वत्स ! माहात्म्यं परमोत्तमम् ।
वक्तृ-श्रोत्रनुमंतॄणां सर्व-वांछित-दायकम् ॥ ८४ ॥
श्री मद्वराह-रूपस्य लोकनाथस्य शार्ङ्गिणः ।
तथैव मारुतेस्तात ! जिताद्तस्य महात्मनः ॥ ८५ ॥

अर्थ—इतनी महिमा का बखान करके, गुरुजी ने फिर शिष्य से कथा का सम्बन्ध जोड़ा—हे प्रिय शिष्य ! इतना ही मैंने लोक के स्वामी, धनुष-पाणि, नर-सूकर रूप धारी भगवान् और महात्मा पवन-पुत्र, हनुमन्त, का माहात्म्य, जो मनुष्यों के कहने, श्रवण करने और नमस्कार करने योग्य एवं उन्हें उनका मनोवांछित फल प्रदान करने वाला है, तुझसे कहा,—॥ ८४, ८५ ॥

एतदुद्देशतः प्रोक्तं माहात्म्यं ते मयानघ ।
देवाचार्य्योऽपि नो शक्तः कृत्स्नं वक्तुं कथंचन ॥ ८६ ॥
नो सहस्र-मुखो देवस्तथा वागीश्वरी च नो ।
गणेशोऽपि च नो शक्तः का कथा तत्र मादृशाम् ॥ ८७ ॥

अर्थ—परन्तु, हे अनघ ! यह सब केवल नाम मात्र का माहात्मय कहा गया है, समस्त महिमा-गयन में तो देवाचार्य्य, वृहस्पति, भी, किसी प्रकार भी, समर्थ नहीं हैं; और न सहस्त्र मुख वाले शेषही कह सकते; न वाग्देवी, सरस्वती ही। इस तरह जब गणेश जैसे वर्णन-पटु देवता भी नहीं कह सकते, तो हम जैसे तुच्छ प्राणियों की कौन कथा है ! ॥ ८६, ८७ ॥

का कथा परमाणूनां यत्र मज्जति शैलराट् ।
नद्यां यस्यां वहन्तिस्म महामत्त गजा अहो ! ॥ ८८ ॥
पिपीलिकादि-कीटानां तरणे तत्र किवलम् ।
एवमेव विजानीहि शक्तिर्नस्तत्र बुद्धिमन् ॥ ८९ ॥

अर्थ—अहो ! जिस महानदी में शैलराट्, हिमालय, और महा मतवाले हाथी बह जाते हों उसमें भला छोटे छोटे किणकों और चिउँटियों के पैरने की कैसी हास्य-जनक बात है ! और

भला उनका बल ही उसमें क्योंकर चल सकता है? उसी प्रकार, हे बुद्धिमान्! जहाँ देवताओं की बुद्धि चकरा जाती है, वहां हमारे जैसे लघु-जन्तुओं की कौन वार्त्ता है? ॥ ८८,८९ ॥

गुणानां तस्य चानंत्याद्वक्तुं शक्तो न कोऽपि वै ।
श्रीविष्णोः कोनु वीर्य्याणीत्याह वेदोप्यनन्तताम् ॥ ९० ॥

अर्थ—विष्णु भगवान् के गुण अनन्त हैं; इस लिए उनका वर्णन करने में कोई भी समर्थ नहीं। वेद भी तो उन्हें अनन्त कह कर ही चुप हो जाते हैं! ॥ ९० ॥

स्व-स्व-गत्यनुसारेण यथा पतन्ति खे खगाः ।
तथा विष्णु-गुण-ग्रामा गीयन्ते हि महर्षिभिः ॥ ९१ ॥

अर्थ—आकाश अनन्त हैं। तथापि जिस प्रकार पक्षियाँ, अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार, आकाश में, उड़ती रहती हैं; उसी प्रकार भगवान् विष्णु के गुणों का महर्षि लोग भी गान करते हैं ॥ ९१ ॥

एषा तेऽभिहिता विद्वन्! गुणानां गन्धमात्रता ।
स्वगिरं विमलीकर्त्तुं प्रागर्थमभिधायिनीम् ॥ ९२ ॥

अर्थ—गुरुजी ने अपने शिष्य से कहा—हे विद्वन! यह जो कथा मैंने तुमसे कही, सो तो केवल भगवान् के गुणों का गन्ध मात्र है। मैंने केवल इसे अपनी वाणी को पवित्र करने के निमित्त कहा है ॥ ९२ ॥

यो जघान हिरण्याक्षं लीलयैव महासुरम् ।
उज्जहारोदधौ मग्नां धरां दंष्ट्रगगां प्रभुः ॥ ९३ ॥
यत्सत्तया विभातीदं सदिव निखिलं जगत् ।
स शिवं प्रददात्वीशो जगतां वश्च सन्ततम् ॥ ९४ ॥

अर्थ—जिस भगवान् ने, हँसी-खेल में ही, हिरण्याक्ष—जैसे महासुर को मार डाला और अपने दाँतों पर रख कर समुद्र में डूबी हुई पृथ्वी का उद्धार किया, एवं जिसकी सत्ता से यह सम्पूर्ण जगत् सच्चा दृष्टि-गोचर होता है, वही ईश्वर तुमको और सारे संसार को कल्याण प्रदान करे ॥ ९३, ९४ ॥

जगदिदमभवद्यतो मेघमाला यथार्कांशुतः ।
स्थितिमुपलभते हि यस्मिन्यथा खेंबुदानां घटा ॥
प्रलयमपिं च यांति यत्र मार्तण्डभानौ यथा ।
तोयदास्तमभयमेकमीशं प्रणौमि प्रभुं हृदि स्थितम् ॥ ६५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार मेघ—माला सूर्य्य की किरणों से पैदा हो कर आकाश में ही रहती, और आकाश में ही लय हो जाती है, उस प्रकार यह सारा संसार जिस ईश्वर से उत्पन्न होता, उसी में स्थित रहता, फिर नष्ट हो जाता है, उस हृदय में रहने वाले परमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ ॥ ६५ ॥

❀ ब्रह्मैव विश्वं सकलं यदेतत् इत्येव वाणो वदति त्वमोघा ।
यस्माद्धि तस्मादहमेव तद्वै मत्तः परं नान्यदिति प्रमाणात् ॥ ६६ ॥

अर्थ—गुरुजी ने मग्न हो कर कहा—यह जो सारा संसार फैला हुआ नज़र आ रहा है, वह सारा-का-सारा ब्रह्म ही है। ऋषियों की अव्यर्थ वाणी का यही कथन है। मैं भी उसी ब्रह्म से उत्पन्न हुआ हूं। उत्पन्न ही क्यों हुवा हूँ; मैं तो, वस्तुतः, वही ब्रह्म ही हूँ। क्योंकि बड़ों ने सदा कहा है कि "हम से परे कोई वस्तु नही" ॥ ६६ ॥

अचलानन्द उवाच—

एतावदुक्त्वा स वभूव तूष्णीं, गुरुर्गरीयान्गणनीय-कीर्त्तिः ।
प्रमीलिताक्षिः प्रकृतेः परंगतः प्रसुप्त-मीनो हि यथाम्बु-राशिः ॥६७॥

अर्थ—इस कथा-की समाप्ति के विषय में ईश प्रार्थना कर के जब गुरु जी सशिष्य निद्रागत हुए, उसी काल का वर्णन ग्रन्थकार स्वामी अचलानन्द जी इस भाँति करते हैं—इतना कहकर वे गुरुओं में महामान्य, कीर्तिवानों की गणना में सन्निविष्ट होने योग्य, गुरु-पुंगव चुप हो गये और अगाध-जल-राशि में सोई हुई मछलियों की नाईं नेत्र मूंद, प्रकृति-गत हो परम सुख से सो गये ॥ ६७ ॥

❀ वेदान्त की रीति से ईश्वरऔर जीव में कोई भेद नहीं। इस श्लोक में ईश्वर और जीव का साम्य और एकीभाव दिखलाया गया है। स्वामी जी पहुंचे हुए वेदान्ती थे। ग्रन्थ के अन्त में इस श्लोक की, असल में, बड़ी जरूरत थी।

श्रुत्वा गुरोर्वक्त्र-सरोजनिःसृतां, स्वरस्वतीं शिष्य उदार-बुद्धिः ।
निःसंशयः शान्तमना बभूव सर्वाधिमुक्तः समवाप निर्वृतिम् ॥ ९८ ॥

अर्थ—गुरु महोदय के कमलवन्मुख से निकली हुई वाणी को सुनकर वह उदाराशय शिष्य सारे संशयों से उन्मुक्त होकर शान्त-चित हो गया ॥ ९८ ॥

इत्थं मयाचार्य्य-विनेय-वर्य्य-सम्वाद-रूपेण निरुपितैषा ।
कथा प्रमोदाय विचक्षणानां, भ्रमापनोदाय तथेतरेषाम् ॥ ९९ ॥

अर्थ—इस प्रकार गुरु-शिष्य-सम्वाद रूप से मैं ने, विचक्षण मनुष्यों के मनो-विनोद,और दूसरों के भ्रमोच्छेद के निमित्त, इस कथा का निरुपण किया है ॥ ९९ ॥

ये श्रावयिष्यन्ति कथामिमां बुधा निर्मत्सरा निर्मद-मान-मोहाः ।
निःसंशया निर्मल-भक्ति-युक्ता निःसीम-सन्तोष-सुधाभितृप्ताः ॥ १०० ॥

विप्रादिवर्णांश्चतुरोऽपि भक्तान् विश्वासयुक्तान्परमास्तिकान्वै ।
ते गो-सहस्रस्य फलं हि नित्यं प्राप्स्यन्ति दत्तस्य विधानवद्भिः ॥ १०१ ॥

अर्थ—जो मान मद-मोह-रहित, निश्चिय-बुद्धि, निर्मल-भक्ति से सम्पन्न, असीम सन्तोष-वृति-धारी, विद्वान् महापुरुष इस कथा को ब्राह्मण-क्षत्रियादि जातियों के विश्वासी, चतुर और आस्तिक भक्तों को सुनावेंगे उन्हें सुपात्र को सहस्र-गोदान करने का फल होगा ॥ १००, १०१ ॥

शृण्वन्ति भक्त्या य इमां विमत्सराः श्रद्धालवो दीन-जनानुकम्पिनः ।
आजन्म-सप्तान्तर-पाप-राशयस्तेषां विनश्यन्ति विमुक्ति-भागिनाम्॥१०२॥

अर्थ—और, जो श्रद्धालु, दुखियों पर दयाशील, और मत्सर-हीन लोग इसे भक्ति-भाव से श्रवण करेंगे, उन परम-धन मुक्ति के भागियों के सात-सात जन्मों के पापों का समूह नष्ट हो जायगा ॥ १०२ ॥

इदं मयोक्तं खलु भूत-वृत्तं, व्यासादि-वाक्यानि विचार्य्य सम्यक् ।
किंचित्स्व-बुद्ध्या परिकल्पितं वै, सोढव्यमेतद्विदुषां हि साहसम् ॥१०३॥

अर्थ—यह भूत-वृतान्त (प्राचीन इतिहास) मैंने महामुनि वेद व्यासादि के वचनों और कुछ अपने बुद्धि वैभव से लिखा है। विद्वान् इस साहस के लिये मुझे क्षमा करें ॥ १०३ ॥

यथा शिशूनां विकलाक्षरां गिरं शृण्वन्ति पित्रादय एव हर्षिताः ।
तथा ममेदं किल काव्य-भासं शृण्वन्तु पश्यन्तु विमत्सरा नराः ॥१०४॥

अर्थ - जिस भाँति बालकों की टूटी-फूटी तोतली भाषा को माता-पिता और अन्य गुरु-जन बड़े हर्ष और चाव से सुनते हैं, उसी प्रकार मेरे इस नाम मात्र के काव्य को भी विमत्सर पण्डित-जन देखें और सुनें ! ॥ १०४ ॥

न चास्तीह किंचिन्मम बुद्धि-वैभवं कोशादि काव्यादि न साधनानि ।
श्रीमद्वराहस्य कृपैव केवला ययेषितोऽहं कृतवान्किलेदम् ॥ १०५ ॥

अर्थ—इसमें मेरी बुद्धि का विस्तार कुछ भी नहीं है। न मेरे कोश तथा काव्यादि साधनों की योग्यता की ही कोई विशेषता है। एक मात्र अखिल-पति भगवान् श्रीमद्यज्ञवराह जी की बलवती कृपा रही है। उसी से प्रेरित हो कर मैंने इस काव्य का निर्माण किया है ॥ १०५ ॥

योषा तथा दारुमयी विचेष्टते यथेषिता सूत्र-धरेण तद्वत् ।
हृदि स्थितेनाखिल-साक्षिणेरिता प्रवर्त्तते वाङ् न च सा स्वतन्त्रा ॥१०६॥

अर्थ—जिस प्रकार कठ-पुतली वैसी ही चेष्टा करती है-उसी प्रकार का नाच नाचती है, जैसा उससे सूत्रधार (नट) कहता है; उसी प्रकार यह मेरी वाणी भी स्वतन्त्र नहीं है। इसने भी ठीक वही किया है जो कुछ हृद्गत और सबके साक्षी देव की आज्ञा और प्रेरणा हुई है॥१०६॥

अतः पराधीनतया न किंचित्सम्भावनीयं मम चात्र दूषणम् ।
उपक्रमोपान्त-मदीयमार्य्यैरालोचनीयं हि परोपकारिभिः ॥ १०७ ॥

अर्थ—अतः पराधीनता के कारण मुझसे यहाँ दोष आना असम्भव नहीं। हाँ, आर्य्य महात्माओं को, उपकार की दृष्टि से, मेरे उपक्रम (आदि करण) और उपान्त (समाप्ति-नयन) की आलोचना अवश्य करनी चाहिये ॥ १०७ ॥

यदत्र न्यूनाधिकमस्ति किंचित्तच्छोधनीयं कृतिभिः प्रयत्नात् ।
कर्त्तव्यमस्तीह न किञ्चिदेषां परोपकाराय वसन्ति सन्तः ॥ १०८ ॥

अर्थ—यहाँ मुझसे जो न्यूनाधिकता (कमी-बेशी) हो गई हो, कीर्तिवान् लोग प्रयत्न करके उसका संशोधन करलें, क्योंकि संसार में "परोपकार" से बढ़ कर इनके लिये दूसरा कोई ही कार्य्य नहीं है,—"परोपकाराय बसन्ति सन्तः।" सत्पुरुष दूसरों के हितके लिये जीवन धारण करते हैं ॥ १०८ ॥

न कामयेऽहं फलमस्य चान्यत् काव्यस्य किंचिद्यश आदि लोके ।
श्रीमद्वराहस्य हि तोषणादृते सर्वं विजाने मृग-तृष्णिकोपमम् ॥ १०९ ॥

अर्थ— इस काव्य-रचना से मैं और किसी प्रकार के यश और गौरव-प्राप्ति की वासना नही रखता । उन्हें तो मैंने श्रीमद्वराहजी की कृपा से खाली होने के कारण सबको मृग-तृष्ण के समान ही मिथ्या समझ लिया है ॥ १०९ ॥

मयेदमाख्यातमतीव सुन्दरं श्रीमद्वराहस्य चरित्रमद्भुतं ।
एतद्धि तस्यैव पदारविन्दयोर्वसत्वजस्रं भ्रमरीव पंकजे ॥ ११० ॥

अर्थ—मेरा बनाया हुआ यह सुन्दर और विचित्र वराह-चरित्र उन्हीं के चरण-कमलों में सदैव उसी रूप में रहे, जैसे भ्रमरी कमल में वास करती है ॥ ११० ॥

बाणार्तु-रन्ध्रावनि सम्मितेऽब्दे,मासोत्तमे चाश्विन-मास-मद्धे ।
पक्षे सिते नाग-तिथौ ज्ञ-वासरे समाप्तिमायाति शनैः शनैरिदम् ॥ १११ ॥

अर्थ—सम्वत् १९६५ विक्रमाब्द के सब-मासों में शोभन मास आश्विन (क्वार) के शुक्ल-पक्ष की पञ्चमी तिथि और बुधवार को यह काव्य शनैः शनैः पूर्ण हुआ ॥ १११ ॥

अभूद्यस्माद्विश्वं स्थिरचरमिदं भिन्नवदहो !
स्थितौ यस्मिन्तिष्ठत्यहिरिव गुणेऽप्यन्तरतया ।
लये यस्मिन्सर्वं भुजग इव रज्वां प्रविशति,
तदेवाहं ब्रह्म श्रुति-निधि- निजानन्दमचलम् ॥ ११२ ॥

अर्थ—अब ग्रन्थ के सानन्द समाप्त होने की प्रसन्नता में विश्वम्भर ज्ञाननिधि भगवान् को सृष्टि का आदि, मध्य और अवसान-स्वरूप बताकर, वेदान्त की रीति से, रज्जू और सर्प का उदाहरण देते हुए, परिमार्जित-भाषा, उत्तम "शिखरिणी" छन्द, और सत्प्रणाली में, मङ्गल-प्रार्थना करते हैं—

अहह ! यह चलाचल विश्व यथार्थतः एक होते हुए भी भिन्न २ जान पड़ने वाला जिस गुणतीत प्रभु से आविर्भूत हुआ और जो स्थित रूप में, रज्जू होते हुए भी भुजग सा भास होता है, अर्थात् वस्तुतः कोई सत्य पदार्थ नहीं है, पर भान होता है महासत्य-सा, एवं फिर ज्ञान होने पर, जैसे प्रकाशादि के सहारे, सर्प-भूत रस्सी फिर रस्सी ही हो जाती है, जिसमें लय हो जाता है, अर्थात् जहां से निकला, उसीमें स्थित होकर कुछ और ही प्रतीत होता है, किन्तु पुनः उसी में समा जायगा। या, यों कहिये कि यह सम्पूर्ण जगत् एक ब्रह्म ही है। मैं वही वेदों का धन (उनमें वर्णित प्रतापवान् देवता) अपने ही स्वरूप में आनन्द-राशि अचल और शान्तमय ब्रह्म हूं॥ ११२॥

यह ग्रन्थकार के ब्रह्म-तत्वानुसन्धान और उसमें परिपक्वता का एक ज्वलन्त प्रमाण है।

इति श्रीमद्वराह--चरित्राख्य--काव्ये श्रीकोटि--तीर्थ--श्रीघुग्घनाथ--श्रीमद्वराह--श्रीहनुमन्माहात्म्य--वर्णनो नाम सप्तमः सर्गः॥ ७॥

इस प्रकार सातवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

शोकोद्गार



स्वामी अचलानन्द गिरि महाराज
का
शव–चित्र ।

शोकोद्गार ।

[illegible]नलेन जनवृन्दवनं जगत्यां दंदह्यते निखिलमत्र न [illegible] ।
[illegible] शान्तरसपूरित एष सिन्धुः कामं व्यशोषि [illegible] ॥ १ ॥

[illegible]नलने हाय ! मनुजवन सर्व जलाया । पर इससे हा ! [illegible] ।
[illegible] शान्तरस पूर्ण अगाध अलौकिक सिन्धु । हाय सुखाया [illegible] ॥

हा ! हा ! दैव किमघ-निन्द्य-चरितं न्यस्तं समस्तात्मना ।
क्रूरध्वस्तदयालव ! स्फुटतरा संपादिता दुर्गतिः ॥
अद्वैतामृतपूरितः परहितप्रामोदयो भास्वरो ।
योगीन्द्रः शिशिरांशुरस्तकरुणं ग्रस्तस्त्वया राहुणा ॥ २ ॥

[illegible]तामृतपूर्ण शान्त निगमागमगामी । शुद्ध विवेक परोपकार [illegible] ।
[illegible] दैव का चरित नहीं यह जाना जाता । [illegible] ॥

वेदान्तामृतवर्षिसुक्ति-निपुणः संसारसिन्धोर्महान् ।
सेतुः संतरणाय भक्तनिवहस्वान्ताब्जभानुर्यतिः ॥
कारुण्यार्णव एष निर्मलल[illegible]स्नेहाङ्कुरः शान्तिमां ।
स्त्यक्त्वा नः प्रमथाधिनायमचलानन्दोऽगमत्सोपितुम ॥ ३ ॥

[illegible] में निपुण योगरत कोविद पंडित । भवसागर के लिये [illegible] ।
[illegible] हृदय-मृदुकंज भानु करुणाकर गुरुवर । हाय ! हाय !! [illegible] ॥



स्वामी अचलानन्द गिरि महाराज
का
शव-चित्र ।

शोकोद्गार ।

कालानलेन जनवृन्दवनं जगत्यां दंदह्यते निखिलमत्र न चित्रमस्ति ।
यत्तेन शान्तरसपूरित एष सिन्धुः कामं व्यशोषि परितस्तदतीव चित्रम् ॥१॥

कालानलने हाय ! मनुजवन सर्व जलाया । पर इससे हा ! खेद नहीं कुछ मनमें आया ।
किंतु शान्तरस पूर्ण अगाध अलौकिक सिन्धु । हाय सुखाया शेष एक भी रहा न विन्दु ॥

हा ! हा ! दैव किमघ-निन्द्य-चरितं न्यस्तं समस्तात्मना ।
क्रूरध्वस्तदयालव ! स्फुटतरा संपादिता दुर्गतिः ॥
अद्वैतामृतपूरितः परहितप्राप्तोदयो भास्वरो ।
योगीन्द्रः शिशिरांशुरस्तकरुणं ग्रस्तस्त्वया राहुणा ॥ २ ॥

अद्वैतामृतपूर्ण शान्त निमगागमगामी । शुद्ध विवेक परोपकार युत निश्चल नामी ।
क्रूर दैव का चरित नहीं यह जाना जाता । लपक-लपक कर दुष्ट कहां से है यह आता ॥

वेदान्तामृतवर्षिसुक्ति-निपुणः संसारसिन्धोर्महान् ।
सेतुः संतरणाय भक्तनिवहस्वान्ताब्जभानुर्यतिः ॥
कारुण्यार्णव एष निर्मललसत्स्नेहाङ्कुरः शान्तिमाँ !
स्त्यक्त्वा नः प्रमथाधिनाथमचलानन्दोऽगमत्सेवितुम् ॥ ३ ॥

ब्रह्मतत्त्व में निपुण योगरत कोविद पंडित । भवसागर के लिये सेतु सम थे ये मंडित ।
भक्त-हृदय-मृदुकंज भानु करुणाकर गुरुवर । हाय ! हाय !! शिवधाम चले हमको अब तजकर ॥

वैराग्यं गलितं समस्तजनतामान्याऽगलत्स्नेहता ।
दाक्षिण्यं जलजं समस्तमभवद् व्याप्तं तमो वन्हिना ॥
शान्तिः साधुगता नितान्तमगलद् ग्लानिस्तृतः सच्छमो ।
योगीन्द्र ! त्वयि याति शंभुवसतिं हा हन्त ! शून्यं जगत् ॥ ४ ॥

गया आज शुभ बोध तत्त्वका, स्नेह मनोहर । गया, ज्ञान वैराग्य योग संतोष-सुधाकर ।
शान्ति न धर्म-विचार नहीं सौजन्य यहां पर । गुरो ! आज हो आप कहो अब छिपे कहां पर ॥

पीपूषवर्षिभिरघं भवभोगजातं घर्षद्भिरत्र वचनैर्विमलैः श्रुतानाम् ।
तापं विहत्य सहजं दयमानचेताः सत्यस्वधर्मपथि नो गमयाम्बभूव ॥ ५ ॥

विषय-वासना पापजालको सहज हटाया । दे-दे शुभ उपदेश धर्म हमको सिखलाया ।
ताप हटाकर त्रिविध दया तुमने दरसाई । गुरुवर ! हमको सत्यधर्मकी रीति दिखाई ॥

धर्मं विहायनिजवंशजमात्मनीनं नित्यं व्यपायपथि हन्त ! वयं प्रवृत्ताः ।
किंतु स्फुरद्दयमभूत्तव मानसं नु बोधं विधाय शुभधर्ममजिग्रहद् यत् ॥६॥

हाय ! छोड़ शुभ धर्म सत्य निजवंशज सारा। नीति-रीति को छोड़ पंथ पकड़ा था न्यारा ।
किंतु दयाकर गुरो ! पाप से हमें निकाला । सत्यधर्मकर्तव्य आपने अपना पाला ॥

श्रुत्वा गुरो ! तव वचांसि मनोहराणि शास्त्रैर्मतानि सुरहस्ययुतानि तानि ।
नैसर्गिकीं परिविहाय निजप्रवृत्तिं नीचां त्वदीयचरणालयमागताः स्म ॥७॥

शास्त्रतत्त्वसे युक्त स्नेह-रस-पूरित कोमल । सुनते थे उपदेश आपके अमित मनोहर ।
दुष्ट वासना छोड़ हटे जो नित्य लगी थी । चित्त-वृत्ति फिर नित्य आपके निकट पगी थी ॥

भोगाशया विगतसत्यविवेकभावाः कामप्रकर्षविजिताः खचिता विलासैः ।
संसारसागरसमुद्गतघोरमोहग्राहोग्रवक्त्रपतिताः शरणार्थिनस्ते ॥ ८ ॥

विषय वासना हमें जगतमें भटकाती थी । लोभ मोह में नित्य हमें वह लटकाती थी ।
कितने ऐसे दुःख सहे थे हमने गुरुवर ! तव दर्शन से नाश हुए थे वे जय गुरुवर !

सत्कर्मशासनसुधाञ्च सुधाकरेण कामं विविच्य किरता भवता स्वलाभि।
कीर्तिर्निमज्जनतया जनितामिताऽलं ध्वस्ताघसार्थविमलाशयया नमस्या॥६॥

सत्यधर्मपीयूष प्रेमसे नित्य पिलाया। एक-एकसे स्नेह तन्तु को सहज मिलाया।
अनुपम गुणके धाम आप थे गुरुवर! सबमें। कीर्तिपताका आज फहरती है सब जगमें॥

तातस्त्वमेव किल संकलयन्स्वकर्म भ्रातस्त्वमेव भवकष्टनिवारणेन।
मित्रं त्वमेव हितवृत्तिकरं सदा न आसीत्समस्तमुदयद्दय! योगिवर्य॥१०॥

पिता आप थे सत्य कर्मको हमें बताया। बन्धु आप थे दुःखमार्ग से हमें बचाया।
मित्र सर्वदा आप प्रेम हमसे करते थे। जो होते थे पाप ईश-सम नित हरते थे॥

सत्यादरः सुनिगमागमपारगामी वेदान्ततत्वनिरतो विरतोऽघजालैः।
तं दैव विन्द्य! हरतस्तव नीचवृत्तेर्नैष्ठुर्य्यमत्र विदितं परदुःखदायी!॥११॥

सत्यपरायण निगम शास्त्रका तत्त्व मनोहर। आप जानते सदा ब्रह्ममय भाव मनोहर।
हाय! दैव ने कुटिल कार्य कर आज दिखाया। कमलाकर में अहो! दुष्ट ने वज्र गिराया॥

लोकोत्तरा सुजनता जनतातिमान्या गण्या गुणादर! सदा गुणिता मता सा।
पूज्या पवित्रपद! ते वचनावली सा नष्टाऽभवत्त्वयि गते शिवधाम धीर!॥१२॥

लोकोत्तर सौजन्य शुद्ध शुभ भाव भरा था। गुणिता का संभार यते! तव पास भरा था।
पूज्य विचार विवेक युक्त वे वचन मनोहर। हाय स्वप्नसा आज हुए यह देखो गुरुवर॥

निःशेषपंडितलसत्परिषद्विराजत् सभ्यव्रजार्पितसुमान यतीन्द्र! हन्त।
त्यक्त्वा समस्तजनतां विनुतां पदाग्रे हाहा! गुरो! व्रजसि शंकरधाम कस्मात्१३

भक्तसमूह नितान्त शरण में नित जाता था। निज निज भाव सुभक्तियुक्त हो गुण गाता था।
आज सर्व को छोड़ चले गुरुवर्य्य! कहाँ पर? होगी क्या गति आज हमारी कहो यहाँ पर॥

हाहा हता तव दया सकला सुधीश नष्टोनु मानमहिमा जगतीतलेऽस्मिन्।
धर्मप्रभावपरता विगता समस्ता याते दिवं त्वयि गुरो जनतापहारिन्॥१४॥

दया आप की वही हमारे हृदय भरी है। अभी हृदय में शान्तभाव से रही हरी है ।
पर यह देख कुकृत्य हृदय फटता जाता है। गुरुवर! वह विश्वास हृदय से हट जाता है॥

आचारभक्तिरमिता गमिताऽल्पभावं दैवेन हन्त हरता हरतावरं त्वाम् ।
नाशं गताद्भुतपरायणता माहात्म्ये हा सद्विचारवति हन्त दिवं प्रयाते ॥१५॥

आज भक्ति की शक्ति नहीं हा दृग पथ आती। नहीं धैर्य से गुरो हृदय में क्षमता आती।
देख कालका कुटिल कृत्य यह सहन न होता। दुःख-सिन्धु में चित्त लगाता सहता गोता॥

सा ते क्षमा स्वपरपक्षसमानमाना नाना विवेकिवरसंततहर्षदा हा ।
मृद्वी मनोहरगुणा वचसां प्रवृत्तिः स्वप्नं समस्तमभवच्छिवधाम याते ॥१६॥

गुरुवर! क्या वह क्षमा नहीं अब देख सकेंगे? करके नित अपराध नहीं क्या मेट सकेंगे।
विशद-सुधासम रम्य वचन क्या नहीं सुनेंगे? क्या हम धर्म समाज कर्म कुछ नहीं करेंगे॥

ते ते गुणा गुरुवरस्य समस्तपूज्याः शान्ति क्षमागमविवेकशमादयश्च ।
हाहा प्रयान्ति निधमं नयमार्गगामिन् याते दिवं त्वयि निराश्रयमोददायिन् १७

शमदम औ संतोष निखिलगुण देख विशारद! होता था मन मुग्ध हमारा सतत समादर।
धन्य धन्य हम अपने को यों कहलाते थे। पाकर धर्म प्रबोध सदा जी बहलाते थे॥

सा स्नेहता सरसता विमला च नित्यं निष्ठा स्वधर्मपथि तत्त्वयुतं रहस्यम् ।
कस्मै पुनर्न भुवि नन्दयिताऽतिमात्रं ब्रह्मैकतान! गुरुवर्य्य! दयासमुद्र! ॥१८॥

स्नेह सरस था हास्य सदा मुख में रहता था। बाल वृद्ध में सदा स्नेहरस समता से था।
नहीं शुद्ध निज वृत्ति धर्म से कभी हटाई। ब्रह्मभाव में लीन भक्त की भीर मिटाई॥

सौजन्यं विगतं निराश्रयमगाद्धर्मोऽपि धर्मालयं,
कारुण्यं कलिकल्मषैः स्फुटतरं संकीलितं सत्वरम् ।
शीलं शैलवदुत्तमं स्थिरतरं नाशाभिमुखं यतो
याते शङ्करधाम हन्त! गुणिनां मान्ये नु मन्ये मुहुः ॥ १९ ॥

आज नहीं सौजन्य निराश्रय धर्म हुआ है। करुणा कलुषित, शास्त्र-बोध अब अस्त हुआ है॥
शील शैल-सम नष्ट भ्रष्ट सब हाय! हुआ है। देगा कौन सुबोध योगिवर चला गया है?

अयि विधे ननु निर्दय! निर्दलन् यतिवरं किमलाधि फलं त्वया?
परहिते निरतं विरतं भवे फलविहीनमहीनकुचेष्टितम्॥ २०॥

निर्दय काल कराल अनवसर में क्या करता। कैसे २ साधु रत्न को सहसा हरता!
परहित में थे लीन हीन के आश्रय ये थे। स्वार्थरहित थे शान्त बोधयुत मृदुमय ये थे॥

ननु गतं सकलं तव गौरवं विफलया दययाऽजनि केवलम्।
श्रुतिमतं गलितं विततं यते! बत गते शिवधाम यतस्त्वयि॥२१॥

गुणिमंडल से मान्य आपका गौरव जो था। शील और संतोष समान सनातन जो था।
दया दयाकर! वही पक्ष पर पक्ष भरी थी। शान्ति उदार विचार सहित सर्वत्र रही थी॥

निगममार्गगतान् परिभावयन् ननु सुधाविशदैर्वचनैर्बहु।
सुकलयन्कलिकल्मषपीडितान् धृतगुणान् यतिसंचयपूजित!॥२२॥

लोभ मोह का जाल सदा दुख देता रहता। पाप पिंड नित दुष्ट भोग से बढ़ता रहता॥
उसे हटाकर सत्य धर्म उपदेश किया था। निराधार जन वृन्द मुदित हो शरण लिया था॥

मधुरया तव बोधितधर्मया शुभगिरा गलितं दुरितञ्जनः॥
अघविनाशकरं तव दर्शनं नयनगोचरमद्य कथं भवेत्॥ २३॥

सुन पवित्र उपदेश आपसे नित्य हमारा। होता था अघ नाश, शुद्ध था चित्त हमारा॥
आज दैव का कोप अरेरे जग में छाया। नहीं आपका सौम्य रूप दृगपथ में आया॥

अयि गुरो गरिमालय! मीलिता तव पदाब्जपरायण भावना॥
सुजनता जनतापविनाशिना ननु कटाक्ष इहापि विधीयताम्॥ २४॥

देखो गुरुवर! भक्तिमार्ग की रीति बताकर। त्रिविध तापमय पाप सहज सब साथ हटाकर॥
जिसे दिया सद्बोध धर्म का मार्ग दिखाया। वही आज जनवर्ग शरण में तेरी आया॥

तव सुधर्मविराजितसद्गतिं हृदयतापविदारणतत्पराम् ॥
निखिल शास्त्ररहस्यमयीं गिरं नवसुधां वसुधातलवर्तिनीम् ॥ २५॥

स्मरति साधिमगौरवमानित ? गुरुवर ! स्फुटमद्य जनव्रजः
गुणगणञ्च विवेकविराजितं कुरु कृपां हृदये पुनरद्य ते ॥ २६ ॥

निखिल शास्त्र शुभ सार भरी वाणी को सुनकर । होता था आनन्द दुःख को समुद हटाकर ॥
सुधातुल्य उपदेश पान हम सब करते थे । मुदित मान में नित्य प्रेमसुख सब लेतें थे ॥

करते हैं गुणगान भाव से गुरुवर तेरा । होता हृदय विदीर्ण शोक से यतिवर मेरा ॥
जो था प्रथम प्रमोद आज होता अन्धेरा । हाय काल ने आज दिया फिर जगमें फेरा ॥

यातः किं पतितां विलोक्य निखिलां धर्मस्य निष्ठां कलौ ।
श्रीमच्छङ्करदेशिकं कलयितुं तत्त्वं भवान् सादरम् ॥
विद्वान्, नम्रियते मनो मम यते शोकाग्निसंव्याकुलं ।
मन्ये संस्फुटतीव हन्त निखिलं शून्यं मया दृश्यते ॥ २७ ॥

देख धर्म की दशा गुरो क्या दुःख हुआ है । क्या कुछ और उपाय हृदय में सुगम हुआ है ॥
अथवा शंकर पास सुनाना यह चाहा है । जो हो पर गुरुराज ! कहो अब क्या चाहा है ॥

निराधारं धर्मं निधनसहितं साधुचरितं ।
सशोकं सल्लोकं विगतमहिमानं श्रुतिगणम् ॥
असारं साधूनां हृदयमितभावं ननु भवं ।
समस्तं तद्व्यस्तं कुरु कुरु यतिं दैव च हरत् ॥ २८ ॥

आज दैव ने निन्द्य कुटिल निज कृत्य दिखाया । धर्म भाव को हाय जगत से अहो हटाया ।
नहीं शान्ति का लेश शास्त्र महिमा न रहा है । और शोक से व्याप्त लोक समुदायक हुआ है ॥

निधानं धर्माणां कुलभवनमाद्यं गुणजुषां ।
गतं रत्नं लोकादहह विधिवाञ्छा सफलिता ॥
अहो किं नैष्ठुर्य्यं सिरसि परितोऽङ्गारतुलितं ।
विधे ज्ञातं ज्ञातं तव खलचरित्रं विरमतात् ॥ २६ ॥

आज धर्म का केन्द्र दैवने लूट लिया है। रत्न अमूल्य महार्घ सर्वथा खींच लिया है।
निष्ठुता का आज हमें परिचय दिखलाया। हाय काल ने नीच कार्य को कर दिखलाया ॥
दैव २ तू चाल निराली अपनी चल ले। करना हो जो कार्य उसी को जल्दी करले।
रह न जाय अब देख मनोरथ तेरा कोई। बच न जाय अब शत्रु जगत में तेरा कोई ॥ १ ॥

नीच! अनेक सुधीर बुद्धि बहु लक्षण पंडित। शूरवीर सामन्त शास्त्र शुभतत्त्व सुमंडित।
तैंने कितने हाय अरे मारे हैं जगमें। तो भी कोई शत्रु रहा क्या तेरे मगमें ॥ २ ॥

पापी नीच गंवार! लपक कर क्या तू आता। निज हाथों से चोट छिपाकर अरे चलाता।
लज्जा तुझ को अभी नहीं आती है मनमें। तेरा काला काम दिखाया क्या है जगमें ॥ ३ ॥

अरे दैव, वे नीच कृत्य तेरा सब कहते। तुझको वे लख क्रूर दूर तेरे से रहते।
तौभी तू निज हाथ बढ़ाकर उनके सन्मुख। हाय झोंकता काल गाल में होकर उन्मुख ॥ ४ ॥

शील सुधाकर ब्रह्म तत्त्वमय अनुपम पंडित। शास्त्र तत्त्व परिबोध भाव गुण गुणगण मंडित।
विज्ञ यतीन्द्र सुब्रह्मचर्य रत कोविद नयकर। ऐसे जनका नाश अरे करता है खल यह ॥ ५ ॥

सत्यधर्म संचार यहां ये नित करते थे। भक्त जनों के दुःखभार को ये हरते थे।
सत्य ज्ञान उपदेश सुनाकर धर्म बताते। दुष्ट कर्म को छुड़ा सत्य में सदा लगाते ॥ ६ ॥

सदा शान्ति सुखसार तथा संतोष भरा था। शम दम में थे लीन ज्ञान से हृदय भरा था।
पूज्य पवित्र विचार यहां ये थे बतलाते। गूढ़ तत्त्वका भाव सदा ये थे बतलाते ॥ ७ ॥

दर्शन करते पाप सभी मन से हरते थे। बंध जगत के त्वरित देखते ही करते थे।
सदाचरण को सदा प्रेमसे थे बतलाते। दुराचार को सहज ज्ञान देकर हटवाते ॥ ८ ॥

हाय कालकी चाल नहीं कुछ कहते बनती। पल पल में यह नीच जगत की करता गिनती।
अरे दुष्टने कृत्य दिखाया है यों अपना। जो था प्रथम प्रमोद आज होता है सपना ॥ ९ ॥

हाय सत्य का मार्ग हमें अबकौन दिखलावे? शील ज्ञान संतोष धर्म पथ को ले जावे?
नीच दैवने किया कृत्य यह कैसा खोटा। हाय रत्न का पड़ा आज दिखता है टोटा ॥ १० ॥

हा दैव निष्ठुर तुझे अब भी न आती। लज्जा अमाप, मन में न दया कराती।
रे देख २ यह भक्त समूह आया। रोता हुआ, यति कहो किसने छिपाया॥ ११॥

क्या नीचकर्म नितही करता रहेगा ? क्या कीर्ति तू जगतमें इससे लहेगा ?।
हा रत्न तू हरगया हमसे कृतान्त। होते सभी हृदय में हम हाय तान्त॥ १२॥

आधार धर्म निगमागम का यही था। संसार दुःख नित ही हरता यही था।
सत्तत्त्वको नियम से हमको सिखाया। था पाप जो सहज में उसको हटाया॥ १३॥

हा हा निराश्रय बने हम हैं नितान्त। हा शोक से व्यतित है करता कृतान्त।
क्या दीनको खल ! अरे बहुधा सताता। क्या दीनको कुटिल ! लात अरे लगाता॥ १४॥

हा कौन धर्म पथ में हमको करेगा। हा कौन कर्म विधि नित्य यहां करेगा।
हा हा निराश्रय बनाकर आप जाते। तो आज यों शरणमें किसकी विठाते॥ १५॥

जाओ गुरो ! सदय ब्रह्मस्वरूप पाओ। जाओ सुधाम शिवके शिवतत्त्व पाओ।
है भाग्य नीच सबका विधि है न वाम। जाओ गुरो ! परम धाम लहो विराम॥ १६॥

पवित्रतरमानसो रसमुनिग्रहव्योमिते।
समुद्यदमलाशयः परहितादरो हायने॥
बुधे गुणतिथौ शुभे नभसि शुक्लपक्षे महा-
नलौकिकविभोऽगमन्निजपदं परैर्दुर्गमम्॥

संवत १९७६ श्रावण मास का शुक्ल पक्ष तिथि तीज। बुधवासर निजपद गये अचलानन्द यतीश।

एतदीयविरहानलदूयमानमानसः सत्यानन्दः